कोई भी समाज अपने स्वत्व में ही अपनी नियति को पहचान और पा सकता है। ब्रिटिश आधिपत्य और उससे उत्पन्न औपनिवेशिक मानसिकता ने भारत को उसकी आत्मा से विलग करने के प्रभावी प्रयास किये हैं। यह भारतीय चित्त की अन्तर्निहित ऊर्जा ही है जिसके कारण यह प्रयास पूरी तरह सफल नहीं हो पाया और आज भी स्वदेशी व्यवस्थाओं पर देश–समाज को खड़ा करने के प्रयास हो रहे हैं।

सिद्ध

ISBN : 81-87827-06- 8

# भारत की पहचान

## धर्मपाल की दृष्टि में

धर्मपाल

सिद्ध

## 'सिद्ध' के प्रकाशन

**◆पत्रिकाएँ**

| | | |
|---|---|---|
| १. | हिमालय रैबार (द्विमासिक) | व्यक्तिगत रु. [illegible]/तीन वर्ष, संस्थागत [illegible] तीन वर्ष |
| २. | 'सिद्ध' संचार सेवा (साप्ताहिक) | वैकल्पिक सोच को [illegible] की [illegible] वार्षिक रु १५००/ संस्थागत, व्यक्तिगत [illegible] |
| ३. | अर्थात् | त्रैमासिक शोध पत्रिका (प्रकाशनाधीन) |

**◆ पुस्तकें**

| | | |
|---|---|---|
| १. | पौधा और मैं | रु. १०/ बालवाड़ी बच्चों के लिए पर्यावरणीय गीत एवं कहानियाँ |
| २. | हमारी बालवाड़ी | रु. ३०/ बालवाड़ी शिक्षिकाओं के लिए प्रशिक्षण पुस्तिका |
| ३. | बालवाड़ी कैलेण्डर | रु. ३०/ बालवाड़ी पाठ्यक्रम |
| ४. | बालवाड़ी सहायिका | रु. ६०/ बालवाड़ी शिक्षिकाओं के लिए पाठ योजना डायरी |
| ५. | मैं | रु. १०/ छोटे बच्चों के लिए अभ्यास–पुस्तिका |
| ६. | हमारा गढ़वाल | रु. २०/ गढ़वाल के इतिहास पर बच्चों के लिए पुस्तिका |
| ७. | गढ़वाल गौरव गाथा | रु. ५०/ गढ़वाल के इतिहास पर बच्चों के लिए पुस्तिका |
| ८. | हिमालय विकास और महिला | रु. १५/सुश्री राधा भट्ट |
| ९. | माना: हिमालय की बेटी | रु. ५०/ सुश्री राधा भट्ट |
| १०. | महिलाओं के मुद्दे | रु. ४०/ कार्यशाला का विवरण |
| ११. | बोधिग्राम | रु. ५०/ 'शिक्षा' पर आयोजित कार्यशाला की रिपोर्ट |
| १२. | Education and Sustainability | रु. ३०/ कार्यशाला रिपोर्ट (अंग्रेजी में) |
| १३. | A Matter of Quality | रु. २५/ शिक्षा पर शोध रिपोर्ट (अंग्रेजी में) |
| १४. | सार्थकता विहीन शिक्षा का फैलाव कितना संगत | रु. २५/ शिक्षा पर शोध रिपोर्ट (हिन्दी में) |
| १५. | हमारे जौनपुर के पेड़–पौधे (खण्ड १) | रु. ४५/ आस पास के परिवेश से शिक्षण के लिए शिक्षक–मार्गदर्शिका |
| १६. | हमारे जौनपुर के पेड–पौधे (खण्ड २) | रु. ३०/ जौनपुर के पेड़ पौधों पर बच्चों द्वारा एकत्रित जानकारी |
| १७. | Child and the Family | रु. २५/ ग्रामीण उत्तराखण्ड में परिवार गठन का बच्चों पर प्रभाव – एक शोध अध्ययन |
| १८. | The British Origin of Cow Slaughter in India | रु. ४९५/ धर्मपाल व टी.एम. मुकुन्दन द्वारा लिखित कई मिथकों को तोड़ती अभिलेखों से परिपूर्ण पुस्तक. |
| १९. | भूमि का भूम्याला देवा | रु. २०/ उत्तराखण्ड अध्ययन श्रृंखला [illegible] |
| २०. | उत्तराखण्ड दस्तावेज | रु. ५/ उत्तराखण्ड में विभागों और प्रशासनीय [illegible] |
| २१. | Rediscovering India (मुद्रण में) | धर्मपाल |

## सहयोगी प्रकाशन

**◆पत्रिका**

१. युवा मन्थन (मासिक)

**◆पुस्तकें**

१. कुमाऊँनी भोजन
२. पुरपुताली पुरै पुरै
३. हमारे बीज त्योहार
४. जौनपुर के बीज त्योहार

# भारत की पहचान
## धर्मपाल की दृष्टि में

धर्मपाल

सिद्ध

भारत की पहचान
© प्रकाशक के अधीन

संपादक : पवन कुमार गुप्ता

प्रथम संस्करण: माघ शुक्ल पंचमी २०५९, बसंत पंचमी, माघ गते २४
(५ फरवरी, २००३)

ISBN 81-87827-06-8

प्रतियाँ : २०००

प्रकाशक : सिद्ध
पो. बॉ. नं. – १९, लण्ढौर कैंट, मसूरी–२४८ १७९
फोन नं. (०१३५) २६३२९०४/२६३०३३८
फैक्स नं. (०१३५) २६३१३०४
email : sidhsri@sancharnet.in
website : http//www.sidh.org

मूल्य : ३५ रुपये

मुद्रक : संजीव एण्ड कं०, देहरादून

# सम्पादकीय वक्तव्य

धर्मपाल जी महात्मा गांधी की परम्परा के उन विरल मनीषियों में से हैं जिन्होंने भारतीय चित्त की बनावट और उस की ऊर्जा को समझने का सार्थक प्रयास किया है। उन्हें पश्चिम के चित्त और इतिहास की भी गहरी समझ है और पूर्व तथा भारत की भी। इसीलिए वे अन्य समाजों के प्रति विद्वेष या घृणा तथा किसी उग्रवादी मुहावरे से बचते हुए भारत के मानस से भारत को समझना और समझाना चाहते हैं।

कोई भी समाज अपने स्वत्व में ही अपनी नियति को पहचान और पा सकता है। ब्रिटिश आधिपत्य और उस से उत्पन्न औपनिवेशिक मानसिकता ने भारत को उसकी आत्मा से विलग करने के प्रभावी प्रयास किये हैं। यह भारतीय चित्त की अन्तर्निहित ऊर्जा ही है जिसके कारण यह प्रयास पूरी तरह सफल नहीं हो पाया है और आज भी स्वदेशी व्यवस्थाओं पर देश–समाज को खड़ा करने के प्रयास हो रहे हैं।

आज हम अपने को कमजोर और दीन–हीन महसूस करते हैं। किस प्रकार अंग्रेजों ने हमें तोड़ा, उसके कारणों की खोज के लिये धर्मपाल जी ने देश–विदेश के अभिलेखागारों, ग्रन्थालयों से प्रभूत प्रमाण एकत्र किये हैं। उनकी विश्लेषण क्षमता ने हमें अपनी ताकत को पहचानने की शक्ति दी है और दृष्टि–बदलाव की ओर इंगित किया है। यह दूसरी बात है कि १९४७ में स्वतन्त्रता लेने के बाद भी देश को चलाने वाली संस्थाओं और व्यक्तियों ने उसे बहुत कम आत्मसात् किया। वास्तव में यह स्वाधीनता कम और सत्ता का हस्तान्तरण ज्यादा था जिस कारण हम आज भी उन्हीं संस्थाओं और प्रशासनिक ढाँचे और व्यवस्थाओं से देश को चला रहे हैं, जैसा पहले चलाते आ रहे थे। सत्ता हस्तान्तरण के बाद भी हमारी मान्यताएँ नहीं बदलीं। इन मान्यताओं में कहीं–न–कहीं यह गलत भाव

छुपा है कि हम पिछड़े हैं। धर्मपाल जी के अनुसार यह कहा जा सकता है कि १९२० तक देश के प्रभुत्वशील वर्ग का एक बहुत बड़ा हिस्सा अपने समाज से अलग—थलग हो चुका था। धर्मपाल जी के अनुसार हमारे श्रेष्ठिवर्ग का यह तबका भारतीय परम्परा को आत्मसात् करके भविष्य का नक्शा न बना पाया पर उसमें सृजनात्मक प्रतिभा होती तो पश्चिम से उसने जो कुछ सीखा था, उसे ही ठीक से पचाकर और भारतीय परिस्थितियों में ढालकर उसे इस देश—समाज के फायदे की वस्तु बना सकता था। लेकिन ऐसा करने में भी वह पूरी तरह असफल हुआ है। इस मान्यता में कहीं—न—कहीं यह सर्वथा गलत भाव छिपा है कि हमारी जनता पिछड़ी है, उन्हें सही और गलत का पता नहीं है और इसीलिए शासन करने वालों को, जनता को संचालित करना जरूरी है और उन्हें (शासकों को) यह बतलाना भी जरूरी है कि आम नागरिक अपना जीवन किस प्रकार जियें; जनता खुद इतनी समझदार नहीं है कि वह अपने जीवन के बारे में सही निर्णय ले सके। यह सोच भी उसी धारणा का फल है कि सारा संसार एक जैसी मान्यताओं से चलाया जा सकता है जबकि वस्तुत: प्रत्येक समाज को ऐसे तरीके ढूँढ़ने होते हैं जो उनके अनुभव व मान्यताओं पर आधारित हों।

धर्मपाल जी जो बेचैनी महसूस करते हैं उसका कारण है कि उन्हें लगता है कि हमारा समाज और राज्य—व्यवस्था जिस तरह दो अलग—अलग दुनियाओं में बँटती जा रही है, उसके पीछे गहरे और दार्शनिक कारण हैं। उनके अनुसार शायद भारत के लोगों का चित्त और इसके आधार पर जो निजी संसार उन्होंने बनाया है, वह ऐसी दुनिया से मेल नहीं बैठा सकता जिसमें वर्गों और क्षेत्रों के बीच एक अनिवार्य विद्वेष रहता हो।

धर्मपाल जी की दिलचस्पी एक नये भारत को रचने से जुड़े सवालों से है। उन्होंने और उनके जैसे सोचने वाले कुछ अन्य इने—गिने लोगों ने यह कल्पना कर ली थी कि सन् १९४७ के बाद ऐसी पुनर्रचना और ऐसा पुनर्जागरण होने ही वाला है। लेकिन जैसे—जैसे साल बीतते गये, इन आशाओं पर पानी फिरना शुरू हो गया। इसी से धर्मपाल जी का लेखन वर्तमान संदर्भ में समाज को पुन: अपनी व्यवस्थाओं पर खड़ा करने की दृष्टि से बहुत उपयोगी है।

आज हम जिस स्थिति में अपने को फँसा पाते हैं, और जिस फँसावट से अनेक प्रयासों के बाद भी निकल नहीं पा रहे हैं, उसका मुख्य कारण है कि हमने उन प्रयत्नों को अपनाया ही नहीं जिनके सहारे देश—समाज को पुन: स्थापित कर सकते थे। ऐसा मार्ग गांधीजी ने सुझाया था परन्तु हमने उस पर कुछ भी अमल नहीं किया।

सन् १९६० से धर्मपाल जी ने जो काम किया है, उसके दो पक्ष हैं :

१. उन्होंने ब्रिटिश अभिलेखागारों के माध्यम से अंग्रेजों के तत्काल पहले के समाज को देखा और उसके बाद हुए विध्वंस की भी साफ झलक देखी। इस प्रकार इस इतिहास को पढ़कर उनकी एक समझ बनी।

२. आधुनिक शिक्षा के कारण 'गरीबी', 'पिछड़ापन', 'जाति', 'स्वशासन' आदि जैसे शब्दों के बारे में इस वर्ग के लोगों ने जो अर्थ अपने मानस में बना लिये हैं, वे किस प्रकार भ्रमित करने वाले हैं और उस गुलाम मानसिकता को पोषित करते हैं जिसे अंग्रेज अपने स्वार्थ के लिए बनाये रखना चाहते थे, उन्हें धर्मपाल जी ध्वस्त करते हैं। अंग्रेजों द्वारा तैयार किये गये अभिलेखों से ही वे अंग्रेजों से तुरन्त पहले के समाज का अवलोकन करते हैं परन्तु इसमें अपने समाज को महिमामण्डित करने का कोई 'गौरवशाली' कार्य वे नहीं करते। उनके अनुसार तो हर समाज अपनी—अपनी बुनियादी व्यवस्थाओं से घिरा था, हमारे भारतीय समाज की इस स्वायत्त दिशा को अंग्रेजों ने सब तरह से बाँटा और तोड़ा। भारतीय समाज की ये बुनियादी इकाइयाँ जीवन—मरण के संघर्ष में पड़ गयीं और अपने भीतर सिकुड़ती चली गईं। इससे एक तो राजतंत्र निरकुंश हो गया और दूसरी ओर कर्त्तव्य की सारी भावना नष्ट होकर देश—समाज, कायरता, गरीबी और अराजकता की स्थिति में पहुँच गया। इस कमजोरी के कारण ही यूरोपीय लोग हमें जीत सके और हमें पराधीन बना सके। धर्मपाल जी ने इन अभिलेखों का अध्ययन करते—करते, भारतीय चित्त की इस दृष्टि को समझा और आधुनिक शिक्षा में दीक्षित लोगों ने विभिन्न शब्दों के जो अर्थ बना लिये हैं, उनको ध्वस्त किया।

धर्मपाल जी ने गांधीजी के 'हिन्द स्वराज' के उस मर्म को समझा है जिसमें गांधीजी आधुनिक सभ्यता को आसुरी सभ्यता मानते हैं। शरीर को सुख कैसे मिले, यही यूरोपीय (या पाश्चात्य) सभ्यता आज देखती है। गांधीजी के अनुसार 'यह सभ्यता तो अधर्म है, और यह यूरोप में इस कदर फैल गयी है कि वहाँ के लोग आधे पागल जैसे देखने में आते हैं। उनमें सच्ची कूवत नहीं है।' इसी के संबंध में गांधीजी आगे कहते हैं कि — "पैगम्बर मोहम्मद साहब की सीख के मुताबिक यह शैतानी सभ्यता है। हिन्दू धर्म इसे निरा 'कलजुग' कहता है। ...... इस सभ्यता के कारण अंग्रेज—प्रजा में सड़न ने घर कर लिया है। यह सभ्यता दूसरों को नाश करने वाली और खुद नाशवान है।"

धर्मपाल जी ने इस मर्म को समझते हुए भारतीय समाज और पश्चिमी समाज की व्यवस्था का गहराई से अध्ययन किया है। इस पश्चिमी सभ्यता ने आधुनिक भारतीय

समाज को आवृत्त कर लिया है। धर्मपाल जी कहते हैं कि 'हमारे देश में या तीसरी दुनिया के दूसरे देशों में परिवार, शिक्षा और समाज की जो अवधारणा आज प्रचलित है, उनकी नींव ग्रेट ब्रिटेन या अमरीका में १९वीं सदी के दौरान पड़ी थी। ...... भारत और एशिया व अफ्रीका के बहुत से इलाकों में, यहाँ तक कि यूरोपीय लोगों का नियंत्रण होने से पहले तक, अमरीका में भी समाज की अवधारणा गहरे स्तर पर रही है। इसीलिए यहाँ व्यक्ति की स्वतंत्रता को एक दूसरी दृष्टि से देखा गया। परिवार और शिक्षा के स्वरूप और उनकी संस्थाओं के अर्थ और ढाँचे के बारे में, यहाँ के लोगों ने भिन्न तरीके से सोचा।' धर्मपाल जी के अनुसार यहाँ परिवार एक व्यापक और अन्तर्गठित समाज का अंग रहा है। यह अनिवार्य रूप से कुटुम्ब, गोत्र, जाति और देश से जुड़ा रहा है। धर्मपाल जी ने भारतीय समाज और यूरोपीय समाज की तुलनात्मक स्थिति को गहरे विश्लेषण और बहस से समझा है। वे चाहते हैं कि भारतीय लोग दोनों सभ्यताओं के बुनियादी अंतर को समझते हुए इसमें कोई घालमेल न करें और किसी प्रकार की गलतफहमी न हो। धर्मपाल जी की व्यथा या व्यग्रता का कारण यह है कि वे यह मानते हैं कि सन् १९५० के आसपास भी भारतीय ढाँचे और तौर–तरीकों के जो अवशेष थे उनमें आज कोई तेजस्विता नहीं रही और हमारी व्यवस्था के बीच एक गहरी दरार पैदा कर दी। धर्मपाल जी के लेखन में बार–बार यह बात उभर कर आती है कि हर सभ्यता का अपना विशिष्ट विचारों का संसार होता है और उसी विचारों के संसार से वे अपने को और शेष दुनिया को देखते हैं और अपने भविष्य की तस्वीर बनाते हैं। धर्मपाल जी साफ देख पा रहे हैं कि आज भारतीय समाज की बुनियादी इकाइयाँ जीवन–मरण के संघर्ष में पड़ गई हैं। इस पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव ने भारतीय समाज को सब तरफ से बाँट और तोड़ दिया है। राज्य और समाज के बीच जो खाई बढ़ गई है, उसने राज्य–तंत्र को निरंकुश कर दिया है और लोगों की जरा–सी फुसफुसाहट भी इस राज्य–तंत्र को बड़ी भारी चुनौती नज़र आने लगती है और वह उसमें अपने अस्तित्व के लिए संकट देखने लगता है। धर्मपाल जी ने इस गड़बड़ी की जड़ों को गहराई से देखा और समझा है। उनके अनुसार "१९४७ से पहले आजादी हासिल करने के लिए या जैसा कि अंग्रेजों ने कहा है, सत्ता के हस्तान्तरण के लिए जिस तरह की बातचीत चली और जिस तरह के समझौते किये गये ..... उनका मुख्य उद्देश्य उन लोगों के पक्ष में इतिहास का चक्र मोड़ना था जो पश्चिमी विचारों के ढाँचे में ढल चुके थे और उन लोगों को किनारे करना था जो देसी तौर–तरीकों की वकालत करते रहते थे।" धर्मपाल जी के आलेखों को पढ़कर यह स्पष्ट होता है कि 'पश्चिमी विचारों में ढले हुए ये आधुनिकतावादी और अपने समाज से कटे हुए लोग कोई रातों–रात पैदा नहीं हो गये थे। वे लोग कोई एक शताब्दी में फले–फूले हैं। विशेषकर १८२९ में जब ब्रिटिश गर्वनर जनरल बेंटिक ने यह लिखा है कि – पुराने जमाने में जो साधन गरीबों और ब्राह्मणों को बाँटने में खर्च किये जाते थे, उन्हें अब यूरोपीय लोगों के स्वागत और मनोरंजन पर खर्च किया जाता है।'

यह पाश्चात्य सोच भारतीय संविधान के बनाने में भी परिलक्षित होती है। धर्मपाल जी के अनुसार '१९४६ से १९४९ के बीच स्वतंत्र भारत का संविधान जिस तरह तैयार किया जा रहा था, उससे भी इन परिस्थितियों को समझा जा सकता है। स्वतंत्र भारत के जन–प्रतिनिधि इस संविधान पर विचार करने के लिए विशेषज्ञों की कई समितियाँ बनायी गयी थीं। मगर उनके अधिकांश सदस्य दूसरे कामों में व्यस्त थे। इसीलिये हमारे संविधान का प्रारूप भारत पर शासन करने के लिए खड़े किये गये अंग्रेजी ढाँचे के आधार पर ही बनाया गया था।' असल में पहले से तय की गई निश्चित तारीख तक संविधान बना देने की मजबूरी की बात के कारण इस बात पर बहस ही नहीं होने दी गयी कि हमारे राजनैतिक ढाँचे की बुनियादी इकाई स्थानीय होगी। इसी कारण पश्चिमी सोच पर आधारित 'बालिग' ही प्रमुख हो गया। धर्मपाल जी ने इस मर्म को बहुत ठीक से समझा है, इसीलिए उनका मानना है कि 'भारतीय जरूरतों के लिहाज से यह संविधान बिलकुल ही बेमेल है और अनजाने ही उसने हमारे राजनैतिक ढाँचे को अंग्रेजी शासन वाले जमाने से भी ज्यादा जड़ बना दिया है।'

धर्मपाल जी के सभी आलेखों से यह बात बहुत स्पष्ट उभर कर आती है कि आज देश में जो हो रहा है, वह तो एक बहुत निचले स्तर का यूरोप व अमरीका का अनुसरण हो रहा है। आज देश का राजनैतिक, शैक्षणिक व व्यापारिक नेतृत्व उन लोगों के हाथों में है जो यूरोप के वैचारिक प्रभाव में हैं और १९४७ के बाद इन्हीं लोगों ने देश को चलाने की बागडोर संभाली। वृहत भारत और उसका स्थानीय और देशज रूप से नेतृत्व व संचालन करने वाले पीछे खदेड़ दिये गये। धर्मपाल जी का मानना है कि उसमें से यदि आज कोई राजनीति में बचे भी हों, तो उनका काम हाथ उठाने मात्र का रह गया है। इसी से धर्मपाल जी को यह साफ दिखलाई पड़ता है कि 'आज हम अपने वृहत्त समाज व जन को भी पश्चिमी विचार की, विज्ञान की, तकनीकी की, व्यवस्थाओं की जंजीरों से बाँधकर पूरे दासत्व की ओर ले जा रहे हैं।'

प्लेटो और अरस्तु को सही परिप्रेक्ष्य में समझते हुए धर्मपाल जी का विश्लेषण है कि 'यूरोप और अमरीका की तो प्लेटो और अरस्तू के समय से ही मान्यता है कि दासत्व

ही साधारण मानव–समाजों के लिए उचित **व्यवस्था है। ...यूनानियों** और यहूदियों के 'ओल्ड टेस्टामेंट' के हिसाब से (जिसे ईसाई **व इस्लाम दोनों मानते हैं**) मनुष्य–मनुष्य में भी फर्क है। कुछ थोड़े से मनुष्य ही मनुष्य माने **जा सकते हैं, बाकी तो** पशु व शेष प्रकृति के समान हैं। आवश्यकता होने पर राजपुरुष **उन्हें बगैर किसी कानूनी** व्यवस्था में पड़े मार सकते हैं, जैसे कि पागल कुत्ते को।'

परन्तु धर्मपाल जी का यह विवेचन मात्र इतिहास के अनसमझे पृष्ठों को उघाड़ना मात्र ही नहीं है। जब वे अंग्रेजों से पहले के भारत की स्वायत्तता का बखान करते हैं, तो भी उनका उद्देश्य किसी तथ्य को महिमामंडित करना नहीं है। वे तो गाँधीजी के बतलाये उस स्वराज्य की कल्पना करते हैं जिसमें आज की फंसावट से निकलकर हम अपने देश की परम्पराओं, मान्यताओं, विधाओं और भारतीय स्वभाव के आधार पर नये भारत का निर्माण कर सकते हैं।

यह तभी संभव होगा जब हम अंग्रेजों से मिले तंत्र व व्यवस्था को पूरी तरह छोड़ने का संकल्प ले लें। १७०० या १७५० से जो विनाश भारत का शुरू हुआ था, उसे बदलकर अपने विचारों, आधारों, स्वभाव व चित्त के अनुकूल बनाने में शायद २०–२५ बरसों से ज्यादा का समय लगेगा। इसके लिए शुरुवात अभी से करनी होगी ताकि जो आवश्यक बदलाव हमें लाने हैं, उन्हें तत्काल लागू किया जाये। पिछले दो–ढ़ाई सौ बरस में हमारे यहाँ जो बदला है, उसमें से शायद ही हमारे लायक कुछ हो। बाहर का जो भी हमें अपनाना है, वह हमारे चित्त और मानस के अनुकूल होना चाहिये तभी वह हमारे काम का होगा। धर्मपाल जी ने अपने शोध से यह भी प्रगट किया है कि भारत केवल कृषि प्रधान देश ही नहीं था; सन् १७५० के आसपास भारत और चीन में कुल विश्व का ७३ प्रतिशत औद्योगिक उत्पादन होता था। सन् १८२० तक भी यह उत्पादन ६० प्रतिशत तक रहा है। परन्तु इसके बाद लगातार गिरावट आई। इन औद्योगिक उत्पादनों में सैकड़ों वस्तुएँ तब बनती होंगी। इसे दोबारा आज की आवश्यकता के अनुसार स्थापित करने की दृष्टि धर्मपाल जी के लेखों से मिलती है। साथ ही, कृषि–व्यवस्था व पशुपालन पर भी पश्चिम के तरीकों को छोड़कर हमें अपने तरीकों, बीजों–फसलों और सिंचाई व्यवस्था पर आना होगा। धर्मपाल जी की यह भी चिंता है कि हमें उपज के लिए सन् १८०० से पहले की स्थिति में जाना है ताकि देश में कोई भी (मनुष्य, पशु या अन्य जीव–जन्तु) भूखा नहीं रहे। पशुओं और मनुष्यों का भूखा रहना हमारे लिए सबसे बड़ा अभिशाप है।

पिछले वर्ष जब धर्मपाल जी को राष्ट्रीय गौपशु आयोग का अध्यक्ष बनाया गया था तो भी उनकी दृष्टि में गाय का प्रश्न स्वराज्य से जुड़ा था। उनकी दृष्टि को अन्य सदस्य गण और अधिकारी तबका समझ ही नहीं पाया।

धर्मपाल जी के लिए काल युगों का होता है। अपनी साभ्यतिक स्मृति की ओर देश की वापसी में धर्मपाल जी भारत के पड़ोसी देशों से जो हजारों वर्षों के घनिष्ठ संबंध रहे हैं, उसे भी समझाना चाहते हैं। इसीलिए धर्मपाल जी का बल है कि हम अपने करीब के देशों – विशेषत: चीन, कोरिया, जापान, थाईलैण्ड, कम्बोडिया, इण्डोनेशिया, वियतनाम, श्रीलंका, नेपाल, म्यांमार (बर्मा), बांग्लादेश, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान से दोबारा अपने करीबी संबंध कायम करें। पिछले ५०० वर्षों में जो संबंध टूट गया है या शिथिल पड़ गया है, उसे दोबारा जागृत करना होगा क्योंकि इन देशों की व हमारी सोच–समझ बहुत कुछ मिलती–जुलती है।

धर्मपाल जी की इन अंतर्दृष्टि से यदि हम अपने को पहचानने और समझने लगें, तो पुराने समाज की जीवन्तता लौट सकती है। इसी से हमारी आत्मछवि सुधरेगी और हममें जो निरर्थक पिछड़ेपन का एहसास है, वह विलुप्त हो जायेगा। इसी आस्था में स्व, प्रकृति और समुदाय का इष्ट है।

इस पुस्तक में संकलित धर्मपाल जी के लेख पिछले तीस–चालीस वर्षों के दौरान लिखे गये हैं। परन्तु इन लेखों का महत्त्व संदर्भ–काल तक सीमित नहीं है। इन लेखों में उठाये गये बिन्दु सार्वकालिक हैं और संभवत: आज तो ज्यादा ही प्रासंगिक हैं। इस पुस्तक में अधिकांश उनके वे लेख सम्मिलित किये गये हैं जो अभी तक पुस्तक रूप में अन्यत्र प्रकाशित नहीं हुए हैं। इन लेखों का संपादन न्यूनतम किया गया है। अत: कहीं–कहीं तथ्यों या विचारों की पुनरावृत्ति हो सकती है।

'सिद्ध' में हम लोग एक टीम की भाँति कार्य करते हैं। अत: इस पुस्तक के प्रकाशन में किसी एक को धन्यवाद देकर मैं अन्य साथियों के योगदान को कम नहीं आँकना चाहता।

धर्मपाल जी ने हमें इन लेखों को छापने की अनुमति दी है, इसके लिए हम उनके आभारी हैं।

– पवन कुमार गुप्ता

# धर्मपाल जी के प्रकाशित ग्रन्थ

१. सिविल डिसओबिडिएन्स इन इंडियन ट्रेडिशन
२. पंचायत राज एज़ द बेसिस ऑफ इण्डियन पोलिटी
३. इण्डियन साइंस एण्ड टेक्नोलोजी इन द एटीन्थ सेन्चुरी
४. डेस्पोलियेशन एण्ड डिफेमिंग ऑफ इण्डिया
सम आसपैक्ट्स ऑफ अरली इण्डियन सोसाइटी एण्ड पोलिटी एण्ड
देयर रेलेवेन्स टू द प्रेसेन्ट डे
५. द मद्रास पंचायत सिस्टम
६. द ब्यूटीफुल ट्री : इण्डीजिनस इण्डियन एजुकेशन इन द एटीन्थ सैन्चुरी
७. अंग्रेजों से पहले का भारत
८. भारतीय चित्त, मानस व काल
९. भारत का स्वधर्म
१०. द कलेक्टेड राइटिंग्स (पाँच खण्डों में)
११. स्वदेशी और भारतीयता
१२. द ब्रिटिश ओरिजिन ऑफ काउ स्लॉटर इन इण्डिया
१३. गोवंश और अंग्रेज
१४. स्मृति, मति और प्रज्ञा — धर्मपाल से उदयन वाजपेयी की बातचीत
१५. रीडिस्कवरिंग इण्डिया (प्रेस में)

इसके अलावा समय–समय पर विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं आदि में लेख प्रकाशित होते रहे हैं।

# विषय सूची

# साहस और आत्मसम्मान, स्वयं प्रेरित समृद्धि और अलिप्तता

महात्मा गांधी को देखने और समझने की अनेक दृष्टियां हैं। पिछले ५० बरसों में उन्हें सत्य, अहिंसा व विश्व–शान्ति के परिप्रेक्ष्य में ही अधिक देखा जाता रहा है। सत्य और अहिंसा और सबके लिये शान्ति भी, हमारे यहाँ बहुत प्राचीन काल से अच्छे देश और काल के आधार व प्रतीक माने जाते हैं। इसी तरह से अलिप्तता भी। महाभारत में भी इनका महत्व है और गौतम बुद्ध और महावीर भी इन पर जोर देते हैं। ऐसा माना जा सकता है कि भारतीय जन और भारतीय सभ्यता हमेशा से सत्य, अहिंसा, सबके लिये शान्ति और अलिप्तता की मान्यताओं पर टिकी है। जब–जब ये आधार कुछ कमजोर होने लगते हैं या इनमें आपस का संतुलन बिगड़ता है, तब तक हमारे यहाँ श्रीकृष्ण, गौतम बुद्ध, महावीर व गांधीजी जैसे मनुष्य आकर नया संतुलन स्थापित करते हैं। १८९० से १९४८ तक ऐसा प्रयास महात्मा गांधी ने हमारे देखते–देखते किया। यह प्रयत्न अधिक बैठ नहीं पाया। इसके कारण अनेक हैं। मुख्य कारण यह लगता है कि आज इस पृथ्वी पर जो लोग व सभ्यतायें हावी हैं, उनकी दृष्टि हमसे बहुत भिन्न है और वे सत्य, अहिंसा, अलिप्तता इत्यादि को हमारी दृष्टि से नहीं देखते।

लेकिन इन भारतीय आधारों को मानते और उन पर स्वयं चलते हुए भी गांधीजी ने और सैकड़ों काम किये : नये–नये रास्ते व विचार सबके सामने रखे और भारत के लोगों में गिरे हुए साहस और आत्मविश्वास को जगाया। गांधीजी से कई बार पूछा गया कि आपने ऐसा क्या किया कि भारत के गिड़गिड़ाते, गिरे–पड़े लोग फिर से खड़े हो गये, उनमें साहस

*(यह लेख जनवरी १९९६ में पवनार में १२ फरवरी, १९९६ के लिये लिखा गया था)*

और आत्मविश्वास जाग उठा। ऐसा १९४३—४४ के कारावास के समय उनसे सुशीला नैयर ने भी पूछा। तब सुशीला नैयर ने १९१४—१५ के करीब तक के बड़े नेता फीरोजशाह मेहता की मानसिकता और व्यवहार को भी गिड़गिड़ाने की स्थिति कहा। तब गांधीजी ने कहा कि मैंने तो विशेष कुछ नहीं किया। मैंने तो केवल इतना किया कि जो विचार व बातें भारतीयों के मन में थीं और जिन्हें वे कह नहीं पाते थे, उनकी ओर से उन्हें खुले रूप से कह दिया।

## दो

ये भारतीयों के मन के विचार और बातें जिन्हें वे पूरी १९ वीं सदी में साधारणत: कह नहीं पाते थे, उन्हें कहना गांधीजी ने २२ बरस की उम्र में अपने पहले प्रकाशित लेख से ही शुरू कर दिया। १८९१ में उन्होंने लन्दन की 'वेज़िटेरियन' (शाकाहारी) पत्रिका के लिये भारत के बारे में पाँच लेख लिखे। उनमें पहले लेख में ही उन्होंने भारत के लोगों की गरीबी का जिक्र करते हुए कहा कि नमक पर अंग्रेजों द्वारा भारी कर के कारण साधारण भारतीय नमक भी पूरी तरह से इस्तेमाल नहीं कर पाते। गांधीजी का १९०५ में कहना था कि इस नमक की कमी के कारण भारत में कोढ़ इत्यादि बढ़े हैं।

इसी लेख में गांधीजी ने गाय की मान्यता और उपयोगिता का जिक्र भी किया और यह भी बतलाया कि उन्हीं दिनों अंग्रेजी राज्य द्वारा भारत में या भारत से बाहर भेजकर, गाय को मारने के खिलाफ एक बड़ा आन्दोलन जारी है। यह आन्दोलन एक बड़े अखिल भारतीय रूप में १८८० से चल रहा था और १८८३—९४ में तो अंग्रेजी शासन इससे घबरा गया था।

नमक की बात गांधी जी के मन में चालीस बरस तक (१८९१—१९३०) रही। जैसा हम सब जानते हैं नमक सत्याग्रह १९३० में हुआ। 'गांधी वाङ्मय' में इस नमक का जिक्र कई बार आता है, जैसे कि ८—७—१९०५ को ('गांधी वाङ्मय' खण्ड ५; क्रम ११, पृष्ठ १० और १४—१०—१९०५, क्रम १२०, पृष्ठ १०५) और १९१७ के आसपास जब उन्होंने अपने एक साथी को नमक विभाग के कागजात देखने नमक विभाग के दफ्तर में भेजा।

लेकिन वे इन शुरू के दिनों में भी केवल नमक व गाय के प्रश्नों पर ही नहीं लगे रहे। भारतीयों के लिये श्मशान घाट का ठीक इन्तजाम हो, वह भी गांधी जी के लिये उतना ही जरूरी था। ('गांधी वाङ्मय' खण्ड ५: पृष्ठ ३९९—४००, ४१५, खण्ड ८: पृष्ठ २७५—६, २९९, ३५८) जितना कि चाहने वालों को बन्दूक इत्यादि रखने की इजाजत





('गांधी वाङ्मय' खण्ड १२: पृष्ठ २३०—३१)। निर्भयता से आत्मसम्मान के साथ जीवन जीने के लिये मनुष्य समूह जो आवश्यक मानते हों, उन सबका ठीक इन्तजाम होना, या होने देने की इजाजत होना, वे आवश्यक मानते थे।

गांधीजी रेलगाड़ी के खिलाफ ही थे, लेकिन रेल के होते हुए कुछ मनुष्यों को उसमें चढ़ने की, या उसके कुछ डिब्बों में बैठने की इजाजत नहीं हो, इसे वे अन्याय मानते थे। इसीलिये दक्षिण अफ्रीका में गये हुए भारतीयों और अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिये गांधीजी की सबसे पहली लड़ाई रेलगाड़ी में बैठने को लेकर ही हुई। ऐसी ही छोटी—बड़ी बातों और झंझटों में से सत्याग्रह का समग्र रूप और आन्दोलन निकला। अन्याय को नहीं मानना, उसे हटाने के लिये खुले आम बोलना, हड़ताल करना ('गांधी वाङ्मय' खण्ड ५: पृष्ठ ४६१) और जरूरी हो तो बड़े आन्दोलन करना, जैसे कि अंग्रेजों के भारत पर कब्जा करने के समय १८०० के आस—पास सारे भारत में होता रहा, ये भारत की प्राचीन मान्यतायें रहीं। लगता है गांधीजी बचपन से ही यह जानते थे। १८४४ में ही सूरत शहर में नमक पर कर को बढ़ाने के खिलाफ एक बड़ी हड़ताल और आन्दोलन हुआ था। ऐसी और भी हड़ताल और आन्दोलन गुजरात और सौराष्ट्र के छोटे—छोटे भारतीय राज्यों में उनके बचपन में होते रहे होंगे। इनका अन्दाजा केवल गांधीजी को ही नहीं, बल्कि लगता है कि जो गरीब मजदूर, विशेषत: तमिलनाडु से दक्षिण अफ्रीका गये हुए, गांधीजी के सम्पर्क में आये उनमें और भारत से गयी स्त्रियों में इस तरह के आचरण की धूमिल याद तब तक भी थी। गांधीजी को इस तरह से अन्याय से लड़ता देखकर उनकी यादें ताजी और शक्तिशाली हो गयीं, और वे गांधीजी के सैनिक बन गये।

## तीन

सदियों से भारतीय सभ्यता और भारत में रहने वाले लोगों की अपनी मान्यतायें थीं, कृषि और उद्योग करने के तरीके थे, प्रकृति, जल इत्यादि के प्रति आत्मीयता का भाव था और स्थान अनुकूल तथा समय अनुकूल जीवन की शैलियाँ थीं। इन्हीं से जुड़ी थीं भारत की समाज व राज्य व्यवस्थायें और भारत की तब की समृद्धि।

यहाँ भारत के भौतिक ज्ञान, कृषि और उद्योग में माहिरपन, शिक्षा, वास्तु विद्या का प्रसार, आयुर्वेद के ज्ञान व चिकित्सा के तरीकों का जीवन से करीबी सम्बन्ध के विषय में कहने की आवश्यकता नहीं है। सन् १८०० तक तो भारत इन सब बातों में संसार में

आगे ही था। इतिहासकारों का मानना है कि उद्योगों में तब तक भारत और **सब देशों** से समर्थ औद्योगिक देश था। १८०० के करीब भारत की खेती की उपज **ब्रिटेन की** उपज से तिगुनी थी। भारत के बहुत से क्षेत्रों में धान की उपज उस समय जापान **में आज** की उपज (६ टन हैक्टेयर) जैसी थी। आज जितनी उपज जापान में होती है।

भारत के लम्बे इतिहास में समय—समय पर बहुत से जन समूह, **अधिकांशतः** उत्तर—पश्चिम की ओर से शायद कुछ पूर्व में बर्मा और दक्षिण पूर्वी देशों से भी, भारत में आते रहे और बसते रहे। पृथ्वी के देशों में जन समूहों का इधर से उधर जाना, बसना, लाखों बरसों पहले से होता रहा है। यूरोप में तो पूर्व मध्य एशिया की ओर से बड़े—बड़े जनसमूह हजार बरस पहले तक यूरोप के अलग—अलग देशों में बसते रहे। उनमें से बहुतों ने आने पर यूरोप के भिन्न—भिन्न क्षेत्रों के पुराने निवासियों को समाप्त ही कर दिया और स्वयं वहाँ के निवासी और राजा बन गये। ऐसा ही १४९२ के बाद से यूरोप के लोगों ने उत्तर—मध्य और दक्षिणी अमरीका में किया। अमरीका जैसे बड़े महाद्वीप में १४९२ के करीब ९ से ११ करोड़ जनसंख्या विद्वानों द्वारा मानी जाती है। इनमें से काफी लोग बड़े—बड़े तीस—चालीस हजार वर्ष पुराने सुन्दर नगरों में रहते थे। पिछले पाँच सौ बरस में यूरोप से आये लोगों के सम्पर्क से ये विशाल जनसंख्या वाली सभ्यताएँ समाप्त प्रायः हो गई हैं। अभी शायद मुश्किल से इनके एक करोड़ वंशज ही होंगे। १४९२ के करीब यूरोप की जनसंख्या आठ करोड़ के करीब रही होगी। आज उनके वंशज यूरोप, अमरीका, आस्ट्रेलिया और दूसरे अनेक देशों में कुल मिलाकर १५० करोड़ के करीब होंगे।

यूरोपीय सभ्यता कुछ इस तरह से बनी है कि उसके सम्पर्क से अधिकांशतः दूसरी सभ्यताओं का विनाश हो जाता है। ऐसा कई हजार बरस से हो रहा है, और अमरीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, अफ्रीका के काफी देशों में तो पिछले पाँच सौ बरसों में तो हुआ ही। अगर यूरोपीय सभ्यता व उसके सोच व तरीके हावी रहे और उनका समझदारी और आत्मविश्वास से मुकाबला नहीं हुआ, तो सम्भव है भारतीय व दूसरी सभ्यताएँ भी मूल अमरीकी सम्यताओं की तरह अगले ५०—१०० बरसों में समाप्त प्रायः हो जायें। मुकाबला होने पर यूरोपीय सभ्यता का पीछे हटना असम्भव नहीं है।

भारत में जो जनसमूह आज से एक हजार बरस पहले तक बाहर से आये, वे केवल भारत में बसे ही नहीं, लेकिन भारतीय सभ्यता में घुलमिल से गये। लेकिन आठ सौ या हजार बरस पहले इस्लाम के झंडे को लेकर जो लोग ईरान, तुर्की, अफगानिस्तान व अरब क्षेत्रों से यहाँ आने लगे वे अपने को विजेता मानते थे, और जहाँ—जहाँ भारत में गये वहाँ





उन्होंने काफी मार काट, लूटपाट इत्यादि की। यहाँ के लोगों को जहां तक हो सका, इस्लाम में भर्ती किया और अपनी बाहरी मान्यताओं के आधार पर अलग—अलग स्थानों पर ऐसे विजेता राजा बन गये। इस्लाम का यह वर्णन गांधी जी ने अपने शुरू के दिनों में ही अपने चार व्याख्यानों में भी किया था ('गांधी वाङ्मय' खण्ड ४ मार्च—अप्रैल १९०५, पृष्ठ ३६८—७०, ३७५—३७७, ४०५—४०९)। लेकिन ईरान, तुर्की आदि से आने वाले ये विजेता राज्य व्यवस्था में विशेष कुशल नहीं थे। विजेता होने और लूटपाट का इन्हें शौक था। लेकिन विजय करने के यूरोपीय तरीके जो दो हजार बरस पहले के रोम में प्रचलित थे, उनको ये समझ नहीं पाते थे। यूरोप की तो पुरानी आदत रही कि जरूरत होने पर हारे लोगों को पूर्णतः समाप्त कर देना। आदतन ये यूरोप जैसे खूंखार भी नहीं थे। इसलिये जब—जब और जहाँ—जहाँ भारत में इनका दबदबा इन ५००—७०० बरसों में रहा, तब भारत में कुछ अराजकता—सी ही रही, और राज्य और प्रजा का सम्बन्ध टूटता गया। राज्य की मान्यतायें काफी हद तक विदेशी हो गयीं और भारत के लोगों का खुलापन, हँसी—खुशी, मधुर सामूहिक सम्बन्ध घटते चले गये। राजनीतिक, सामाजिक स्तर पर तो भारत कमजोर हो ही गया, बौद्धिक स्तर पर भी ऐसी कमजोरी का असर पड़ा। लेकिन इसके बावजूद कृषि उद्योग इत्यादि में भारत फिर भी मुख्यतः आगे ही रहा।

## चार

१७०० के करीब इस्लाम के नाम पर राज्य करने वाले काफी कमजोर पड़ गये। ऐसी कमजोरी गुरू नानक, समर्थ रामदास इत्यादि संतों की पुकार पर भारत के अलग—अलग क्षेत्रों के जनसमूहों के खड़े हो जाने से भी बढ़ी। गांधीजी ने इन सबके योगदान का उल्लेख अपने १९०५ के व्याख्यानों व तभी के और लेखन में किया है।

लेकिन यूरोप के देशों की सेनाएँ सन् १५०० के करीब से भारत का घेराव कर रही थीं। १५०९ के करीब उन्होंने गोवा क्षेत्र पर कब्जा कर ही लिया था। १५५० तक यूरोप की विभिन्न शक्तियों ने श्रीलंका, थाईलैण्ड, मलेशिया, इण्डोनेशिया के इलाकों पर भी कब्जा करना शुरू कर दिया था। दो—सौ बरस के बाद १७५० से यूरोप ने भारत में भी लड़ाई छेड़ दी और सब तरफ बढ़ना शुरू किया। १७६० में ऐसी स्थिति हो गयी कि दिल्ली के मुगल राज्य के बादशाह का पद भी ऐसे मुगल राजकुमार को दिया गया जिसे अंग्रेजों का आशीर्वाद तथा सैनिक व पैसे की मदद प्राप्त थी। इसी मुगल राजकुमार से सारे भारत

का राज्य १७६५ में अंग्रेजों ने, कानूनी दृष्टि से, अपने नाम लिखवा लिया। बंगाल और दक्षिण में मार–काट, लुटाई, पुरानी व्यवस्थाओं को तोड़ना आदि तो १७५० के करीब से ही शुरू हो गया था। १८०० तक अंग्रेजी प्रभुत्व भारत पर छा–सा गया, और १८१८ में मराठों के पूरी तरह हार मान लेने पर और राजस्थान के राज्यों का अंग्रेजों के मातहत हो जाने पर भारत पर अंग्रेजी प्रभुत्व एकछत्र हो गया।

राज्य और समाज के अलग–अलग मान्यताओं पर चलने से भारतीय समाज और उसके समूहों के आपसी रिश्ते अंग्रेजों के आने से पहले ही जगह–जगह पर बिखर से गये थे, और जहाँ इस्लामी राज्य का विशेष सीधा प्रभाव नहीं पड़ा था, वहाँ भी कमजोर हो गये थे। अंग्रेजों के हावी हो जाने के बाद तो सब तरफ भारतीय समाज और व्यवस्थायें पूरी तरह से बिखर गयीं और जो बचा वो अपने अन्दर सिकुड़ गया और सामाजिक व व्यक्तिगत कठोरता और निष्ठुरता बढ़ती चली गयी। इसके साथ भारतीय उद्योगों, कृषि, पशुपालन और वनों और नदियों का विनाश शुरू हुआ और गांधीजी के १८६९ में जन्म तक, तकरीबन हर कोई कंगाल जैसा दीखने लगा। ऐसी ही स्थिति में कुछ भारतीयों को जबरदस्ती या बहका कर अंग्रेजों की खेती में मजदूरी के लिये अंग्रेजों के साम्राज्य के देशों में ले जाया गया। ये ही भारतीय १९०० से १९१४ के बरसों में दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी के सेनानी बने।

इस तरह से जबरदस्ती व बहका कर लोगों को दूसरे देशों में कड़ी मजदूरी के लिये ले जाना अंग्रेजों की पुरानी प्रथा थी। १६ वीं, १७ वीं, १८ वीं सदी तक काफी सारे इंग्लैण्ड के गरीब लोग भी इसी तरह अमरीका व आस्ट्रेलिया ले जाये जाते रहे। आयरलैण्ड के लोग तो १९ वीं सदी में भी ले जाये जाते रहे।

## पाँच

भारत की गिरी स्थिति और भारतीयों की भयंकर गरीबी के इस समय में गांधीजी १८९३ में दक्षिण अफ्रीका आये। एक भारतीय के नाते उन्हें भी वे दिक्कतें, बेइज्जती इत्यादि झेलनी पड़ीं जो बाकी भारतीयों को झेलनी पड़ती थीं। ऐसी ही स्थिति में उन्हें भारतीयों में साहस और आत्मविश्वास का लौटना अति आवश्यक लगा। इसके लिये बहुत तरह के काम उन्हें करने पड़े। अपने लोगों के साथ अंग्रेजों की लड़ाइयों में भी भाग लेना पड़ा, और इस–बीच क्योंकि अपने विचारों, शक्ति और कार्य को केन्द्रित करके रखना था,





इसलिये यूरोप के लोगों द्वारा दक्षिणी अफ्रीका के मूल वासियों पर जो अत्याचार इत्यादि बराबर होता था, उसकी भी अनदेखी करनी पड़ी। उनकी प्राथमिकता तो भारतीयों में आत्मसम्मान और साहस लौटाने की थी और उसके द्वारा उनमें फिर से सामाजिक सम्बन्धों की संरचना करना स्वतंत्रता की भावना लाना और घोर गरीबी को हटाना भी था। यह सब करने के लिये वे सेनापति भी बने, शिक्षक भी और आस्था के प्रतीक भी।

१९०३ में गांधीजी ने दक्षिणी अफ्रीका में 'इंडियन ओपिनियन' नाम का साप्ताहिक चलाया। यह गुजराती और अंग्रेजी दोनों में प्रकाशित होता था। कुछ समय तक यह हिन्दी और तमिल में भी छपा। इसमें रामायण इत्यादि पर तो लिखा जाता ही था, उसी तरह से टालस्टाय, रस्किन, थोरो इत्यादि पर भी। इन लेखों में भी साहस, आत्मसम्मान, वीरता का संदेश रहता था। लेकिन व्यक्तिगत व सामूहिक वीरता पर भी स्वयं गांधीजी द्वारा बहुत लिखा गया। १९०५–१९०६–१९०७ में जब जापान ने रूस को हराया तब जापान पर कई लेख लिखे और एक लेख में तो गांधीजी ने कुछ दुख के साथ यह भी कहा कि हम तो शायद जापान जैसे साहसी और वीर नहीं हो पायेंगे। इटली के मैजिनी इत्यादि पर भी ऐसा ही लिखा गया, और समर्थ रामदास पर भी।

दक्षिणी अफ्रीका में काफी भारतीय मुसलमान भी बसे थे। गांधीजी के उनमें से कइयों से शुरू से ही करीबी सम्बन्ध थे। लेकिन लगता है कि मुसलमानों के अधिक आत्मविश्वास और साहस को देखकर गांधीजी उनके और अधिक करीब पहुँचे। मुसलमानों के साथ ऐसा करीबी सम्बन्ध गांधीजी का अन्त तक रहा।

## छह

दिसम्बर १९०९ में गांधीजी ने 'हिन्द स्वराज' लिखा। उसको लिखने से कुछ दिन पहले ही वे लन्दन की एक सभा में बोले। वहाँ उनका कहना था कि भारत को अपना आत्मसम्मान लौटाने के लिये तथा एक स्वस्थ समाज फिर बनाने के लिये वह सब पूरी तरह से भूल जाना चाहिए जो उसने पिछले ५०–१०० बरसों में अंग्रेजों व यूरोप से सीखा है। उनका मानना था कि अपनी स्वस्थ एवं टिकाऊ सभ्यता लाने के लिये हमें रेल, तार, अस्पताल, वकील, डॉक्टर इत्यादि सब छोड़ देने चाहिये और हमारे धनी लोगों को भी अपने पुराने तरीकों पर लौट आना चाहिये। भारतीय, भारत में, भारतीय तरीकों से बनी वस्तुओं पर ही जीवन चलायें, जैसे अन्न, कपड़ा, दवाई, शिक्षा, व्यवस्था।

क्योंकि गरीबी भयंकर थी और वह जल्दी मिटने वाली नहीं थी, ऐसे परिप्रेक्ष्य में गांधीजी ने दरिद्र नारायण की सेवा की बात उठाई। सबको जितना आत्मसम्मान रखते हुए मिलना संभव हो, दूसरों की दवा व भीख पर नहीं, इसकी उनकी दृष्टि में प्राथमिकता थी। इसी में से चर्खे और खादी का कार्यक्रम व आन्दोलन निकला, और इसमें से ग्रामोद्योगों को दोबारा से खड़े करने का प्रयास। लोहा इत्यादि भी, जो भारत में १८०० के बाद तक हजारों स्थानों पर बनाया जाता रहा, गांधीजी की दृष्टि में ग्रामोद्योग में आता था। १९३६ में सांवली में और १९३८ में उड़ीसा में, जगन्नाथपुरी के पास, गांधी सेवा संघ के अधिवेशनों के अवसर पर पुराने भारतीय तरीके से लोहा बनना दिखाया गया। भारत कैसे व्यवस्थित हो; इसे लेकर पंचायतों की बात चली और १९४६ तक पहुँचते–पहुँचते (ओशयानिक सर्कल पोलिटी) का विचार उन्होंने सबके सामने रखा। भारतीय भाषाओं में व्यवहार व लिखना पढ़ना वे आरम्भ से ही आवश्यक मानते थे उनका मानना था कि भारत की भाषाओं की अगर कोई एक ही लिपि हो तो वो देवनागरी हो सकती है। रोमन लिपि में भारतीय भाषायें लिखी जायें, इसके वे अत्यन्त खिलाफ थे।

## सात

लेकिन खादी, ग्रामोद्योग, दरिद्रनारायण की सेवा का मतलब गांधीजी के लिये यह नहीं था कि जीवन में हँसी–खुशी नहीं हो, समृद्धि नहीं हो। समृद्धि और अलिप्तता भारत में हमेशा से साथ–साथ देखी गयी है। गांधीजी की भी दृष्टि ऐसी ही थी, ऐसा कहा जा सकता है। हर व्यक्ति को कितने खाने की आवश्यकता है, इस पर वे अक्टूबर १९४१ में बोले – हर किसी को आधा सेर (एक पाउण्ड) दूध, दो तोला घी, और ढाई तोला मक्खन प्रति दिन मिलना चाहिये। जैसे आश्रम में सब्जी, भाजी दी जाती है, वह भी हर एक के लिये आवश्यक है। जो खेती इत्यादि के काम में लगे हैं, उन्हें ज्यादा अनाज की भी जरूरत होगी, और दाल की भी। उनके लिये दूध और मक्खन शायद कुछ घटाया जा सकता है। हमारे रसोई में मक्खन निकाले हुए दूध का भी उपयोग होना चाहिये। सबको कुछ फल भी मिलना चाहिये। इमली, नीबू, टमाटर भी सबको मिलने चाहिये ('गांधी वाङ्मय' : खण्ड ७५, पृष्ठ ४१)।

१८०० के करीब के दक्षिण भारत में एक सर्वेक्षण के अनुसार सब तरह के लोग आधा सेर अनाज प्रति व्यक्ति प्रति दिन इस्तेमाल करते थे। तबकी इस फहरिस्त में





१८–२० और वस्तुएँ भी दी गई हैं। इस फहरिस्त के बनने के समय तक यह क्षेत्र काफी गरीब हो चुका था।

गांधीजी ने एक बार तो हमारे आत्मसम्मान और साहस को वापिस ला ही दिया। और उसके साथ–साथ देश में आशा जगी। गरीबी बाँटकर भी आपातकाल में जीवन जिया जा सकता है, यह भी हमने सीखा। ग्रामोद्योग इत्यादि भी कुछ हद तक दोबारा खड़े हो गये और अन्त में अंग्रेजी राज्य भी भारत से गया।

## आठ

लेकिन हमारे धनी, शिक्षित व ब्रिटिश शासन से जुड़े लोग तो १८३० के करीब से ही यूरोपीय मान्यताओं की ओर बढ़ रहे थे और भारत के उद्योग इत्यादि कमजोर पड़ने पर यूरोपीय वस्तुओं का ही इस्तेमाल करने लगे थे। गांधीजी के १९१५ में भारत आने के बाद और उन्हें सुनकर यह यूरोपीय प्रभाव कुछ घटा तो, लेकिन मिटा नहीं। १९४४ के करीब से यह फिर बढ़ने लगा और स्वतंत्रता संग्राम में शामिल धनी और शिक्षित लोग यूरोपीयन तरीकों के हामी हो गये और ऐसा खुले आम कहने लगे कि भारत को अब यूरोप के रास्तों पर ही चलना पड़ेगा। उनके हिसाब से यही समय की माँग थी।

इन पिछले ५० बरसों में तो यूरोपीय दृष्टि और तरीकों का बोलबाला बढ़ा ही है। आज तो आधे से अधिक भारतीय खेती भी यूरोपीय पद्धति पर होती है। उद्योग तो हमारे सब मिट ही गये। हम अपने ढँग का जो बनाते भी हैं, उसके औजार तथा कच्चा माल इत्यादि तो अब ९० प्रतिशत बाहर के तरीकों से ही बना है। हमारे राजतंत्र, उद्योग, शिक्षा, नगर पालिकायें, पंचायत, इत्यादि भी यूरोपीय व्यवस्थाओं की मान्यताओं पर चलती हैं।

हमने सोचा था कि यूरोपीय ढँग अपनाने से हम जल्दी ही यूरोप व अमरीका जैसे हो जायेंगे। और देशों – जैसे कि चीन, जापान, कोरिया इत्यादि – ने भी पिछले ५०–१०० वर्षों में यूरोपीय विज्ञान और तरीके अपनाये, वे तो काफी हद तक आगे निकल गये और अपना आत्मसम्मान, अभिक्रम–शीलता इत्यादि भी उनके पास रहा। लेकिन हम न केवल पिछड़े ही हैं, हमने अपना आत्मसम्मान और साहस भी खो दिया दीखता है। आज तो हम में से बहुत से भारत को और अपने को दीन अवस्था में मानते हैं। हो सकता है इस तरह की हीनता के भाव का कोई असली आधार नहीं हो। आज भी हम साहस करें, तो इस दलदल और दीनता से छुटकारा पा सकते हैं।

## नौ

वैसे तो यूरोप के आधुनिक तरीकों का (सन् १५०० व विशेषतः सन् १८०० के बाद से) विरोध करने वाले लोग तो यूरोप और अमरीका में जब से आधुनिकता चली, तब से रहे हैं। इनका समय–समय पर आधुनिकता पर कुछ असर भी होता रहा है। विशेषतः यह असर आधुनिकता की कमियों को हटाने और नतीजतन उसे अधिक सफल बनाने और बढ़ाने में ही हुआ। इंग्लैण्ड और दक्षिणी अफ्रीका में रहते समय गांधीजी का ऐसे आधुनिकता विरोधी काफी व्यक्तियों से परिचय भी था।

पिछले ६०–७० बरस में आधुनिक तरीकों का भारतीय खेती पर भी असर पड़ना शुरू हुआ। ऐसा ही खेती पर आधुनिकता का असर यूरोप और अमरीका में पिछले डेढ़ सौ बरस से चल रहा है। लेकिन आज यह माना जाने लगा है कि आधुनिक खेती सब ही दृष्टि से नाशक है और इसलिये त्याज्य भी। भारत के किसानों को भी ऐसा अन्दाजा पिछले २०–२५ बरस से हो रहा है। काफी लोगों का तो मानना है कि पुराने ढँग की, पुराने बीज, खाद इत्यादि के बल पर की गई खेती न केवल धरती को उपजाऊ रखती है, बल्कि वह कुल मिलाकर आधुनिक खेती से अधिक उपज देती है और उसमें जो पैदावार होती है, वह हर दृष्टि से (स्वाद, गुणवत्ता तथा रोग–मुक्ति) आधुनिक खेती की पैदावार से बेहतर है।

अगर यह हिसाब सही है तो हमें देशव्यापी स्तर पर अपने पुराने ढँग की खेती पर लौटना आसान होना चाहिये। हो सकता है पूरी तरह से वापिस लौटने में १०–१५ वर्ष लग जायें और पुराने तरीकों में जो आवश्यक लगे उनके अनुकूल फेर–बदल भी करने पड़ें। लेकिन अगर हमें पश्चिम के शिकंजों से निकलना है, अपने पांवों पर खड़ा हो जाना है, और अपनी साधना व बुद्धि से अपना जीवन चलाना है तो ऐसा फेर–बदल खेती से शुरू कर सकते हैं।

खेती में अगर ऐसी शुरुआत होती है तो उद्योग धंधों में भी हो सकती है। ऐसा करने के लिये न केवल पुरानी कारीगरी व ज्ञान, किन्तु आधुनिक विज्ञान और तकनीक की समझ, उसके ध्येय, कमियों इत्यादि के बारे में जानकारी भी काम की होगी।

इसी तरह के निश्चयों से हम आज की शिक्षा, शासन व तंत्र की व्यवस्थाएँ इत्यादि भी बदल सकते हैं और उन्हें अपनी मान्यताओं व साधनों के आधार पर एक स्वस्थ भारतीय रूप दे सकते हैं।





लेकिन यह सब तभी हो सकेगा जब हम अपना आत्मसम्मान व साहस वापिस ले आयेंगे। अपने भरोसे जीने का निश्चय कर लेंगे और यह समझ लेंगे कि इस बदल का रास्ता कठिन और टेढ़ा, दोनों ही होगा।

## दस

मैंने १५–२० बरस पहले, गांधीजी ने ३१–३–१९३१ को कराची में जो इन्टरव्यू इंग्लैण्ड के 'गार्जियन' अखबार को दिया था, उसकी पत्रकार द्वारा टाईप की हुई प्रति देखी। यह लन्दन में नीलामी में आई और इसे इंडिया आफिस लायब्रेरी ने खरीद लिया था। इस दस पन्ने की प्रति पर गांधीजी ने काफी काट–छांट करके सुधार किये थे और उसके बाद १ अप्रैल को सुधार किया हुआ इंटरव्यू 'गार्जियन' व कलकत्ते के 'स्टेट्समैन' में छपा था। इंटरव्यू में कई प्रश्न थे। उनमें मुख्य प्रश्न दो थे, पहला कि आप औपनिवेशिक स्वराज्य (डोमिनियन स्टेट्स) को क्यों नहीं मंजूर करते, और क्यों पूर्ण स्वराज की बात करते हैं। तब गांधीजी ने कहा था कि डोमिनियन स्टेट्स तो कनाडा, आस्ट्रेलिया इत्यादि जो ब्रिटिश कुटुम्ब के ही हैं, उनके लिये हैं। हम तो भिन्न सभ्यता के हैं। हम पूर्ण स्वराज के बगैर कैसे रह सकते हैं। दूसरा सवाल था कि पूर्ण स्वराज होने पर आपके यहाँ भयंकर हिन्दू–मुस्लिम झगड़े इत्यादि होंगे तो उन्हें ब्रिटिश सेना के बगैर आप कैसे रोकेंगे। गांधीजी का कहना था कि अगर ब्रिटिश सेना की आवश्यकता पड़ी तो हम उसका खर्चा देकर उसे ब्रिटेन से माँग लेंगे। उनकी मान्यता से ब्रिटिश सेना किराये पर मिलने वाली (मरसीनरी) थी, इसलिये पैसा देकर उसका इस्तेमाल किया जा सकता था। लेकिन अगर ब्रिटेन ने सेना नहीं दी तो हम आपस में अपनी लड़ाई लड़ लेंगे। हो सकता है ऐसा करने में एक या दूसरा समूह नष्ट हो जायें। लेकिन इस डर से हम पहले से ही ब्रिटिश सेना को अपने यहाँ रखें, यह तो हम नहीं कर सकते। यह तो हमारे गौरव और आत्मसम्मान के खिलाफ होगा। बाद में गांधीजी ने यह जरूर जोड़ा कि उन्हें आशा है कि ऐसी परिस्थिति नहीं आयेगी।

दस बरस पहले कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय में मैंने गांधीजी की लिखावट निर्मल कुमार बोस के कागजों में देखी थी। कागज नोआखली और बिहार में १९४६–४७ में दिये गये गांधीजी की शाम की प्रार्थनाओं के भाषणों के थे। इनमें से काफी तो दूसरे व्यक्तियों के हाथ से लिखे हुए थे, लेकिन उनमें से हर एक में गांधीजी के किये सुधार व उन्होंने जिसको ठीक पाया, इसका इशारा था। लेकिन कुछ भाषण ऐसे

थे जो पूरे के पूरे गांधीजी के हाथ से लिखे गये थे। यहाँ शायद यह बताना भी ठीक होगा कि अधिक भाषणों में तो गांधीजी भविष्य के भारत के बनाने की बात कर रहे थे और उनमें निराशा तो साधारणत: नहीं दीखती थी।

ये दोनों बातें मैंने इसलिए कहीं कि हम यह समझ लें कि महात्मा गांधी केवल कोरे आत्मविश्वास व साहस के लौट आने तक की बात ही नहीं कर रहे थे। जब उन्होंने कहा कि मैंने विशेष कुछ नहीं किया, जो लोगों के मन में था और जिसे वे कह नहीं पाते थे उसे खुले आम कह दिया, तो इसका मतलब खाली कह देना नहीं था, जो बात मन में थी और जो कही गयी, उसके हिसाब से कदम उठाने का भी था। यही उनकी भारतवासियों से अपेक्षा थी। स्वयं तो वह किसी और के न होने पर अपने प्रार्थना–भाषण को भी, नोआखली जैसी कठिन जगह पर, प्रार्थना से लौटने पर स्वयं लिखकर ही रात को सोते होंगे।

### ग्यारह

दस बारह वर्ष पहले प्रोफेसर स्वामीनाथन ने, जिन्होंने ९० खण्डों का 'गांधी वाङ्मय' सम्पादित किया है, गांधीजी को हनुमान की उपमा दी थी। तब तो यह उपमा मुझे बहुत ठीक नहीं लगी। लेकिन अब लगता है कि वे सोच–समझकर ही ऐसा कह रहे थे।

लेकिन हनुमान को तो देशभर जानता है और उनकी पूजा करता है। महाराष्ट्र में तो, शायद समर्थ रामदास के समय से या और पहले से भी, हनुमान जयन्ती हर जगह मनायी जाती है और हर व्यक्ति और घर उसे मानता है। सेवाग्राम में किसी ने मुझे बताया कि हनुमान को तो सब मानते हैं, उसमें हिन्दू–मुसलमान या और किसी तरह का फर्क नहीं रहता और सब ही 'हनुमान जयन्ती' को मनाते हैं। हो सकता है अगर हम इस पर विचार करेंगे तो जिस साहस, आत्मसम्मान और लगन की हमें आवश्यकता है, वह हमें गांधीजी पर फिर से मनन करने पर मिल जायेगी।

◆◆◆



# गांधी जी की अन्तर्दृष्टि

(धर्मपाल जी ९ जून, २००० को राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के निमन्त्रण पर उनके प्रमुख कार्यकर्ताओं को सम्बोधित करने नागपुर गये थे। धर्मपाल जी पहले कुछ पशोपेश में थे लेकिन बाद में उन्होंने नागपुर जाने का निर्णय ले लिया। वे पहले से कुछ लिख कर ले गये थे परन्तु बोलते वक्त लिखा हुआ भाषण नहीं पढ़ा और कुछ अन्य विषयों पर भी बोल गये। कोशिश की गई है कि सिर्फ बोले हुए को ही नहीं, वरन लिखे हुए भाषण में से भी सम्बन्धित अंशों को जोड़ कर इस लेख को प्रस्तुत किया जाय)

मैंने यहाँ आने से पहले सोचा कि कुछ लिख लेना चाहिये। इसलिए मैं सुदर्शन जी के दो–तीन महीने पहले दिये गये उद्‌बोधन को पढ़ने लगा। उसमें उन्होंने गाँधी जी और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के संस्थापक श्री हैडगेवार जी के बीच हुई एक वार्ता का उल्लेख किया था। वह वार्ता खिलाफत आन्दोलन के सन्दर्भ में थी। सन् १९२० के करीब से, खिलाफत के प्रश्न को लेकर, एक मुसलमानी आन्दोलन इस देश में चला। उसमें गाँधी जी ने मुसलमानों का साथ दिया और इसके चलते कुछ मुसलमान गाँधी जी के साथ आये भी। लेकिन बाद में यह आन्दोलन अपने आप गिर गया क्योंकि जिस बात को लेकर यह आन्दोलन शुरू हुआ था, वह बात ही समाप्त हो गयी। क्योंकि बात तो यहाँ की नहीं थी, तुर्की की थी।

हैडगेवार जी जैसे बहुत से लोगों, जो उनकी तरह पूर्ण रूप से स्वतन्त्रता आन्दोलन

---

*(यह लेख मई–जनू २००० में लिखा गया था)*

से जुड़े हुए थे, के मन में इन बातों को लेकर प्रश्न उठे होंगे। उनको लगा होगा कि इससे देश का नुकसान होने की संभावना है। गाँधी जी से जो वार्ता हुई, उससे हैडगेवार जी की शंका नहीं मिटी। शायद मिटनी आसान भी नहीं थी। गाँधी जी के सामने तो बहुत सारे प्रश्न आते होंगे। गाँधी जी के लिए खिलाफत के प्रश्न को भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में प्राथमिकता देना शायद बहुत कारणों से रहा होगा। उनमें से एक कारण भारत में मुसलमानों के माने जाने वाले नेताओं, जिनमें अधिकांश बाहर से आये हुए मुसलमानों के वंशज ही थे और खिलाफत आन्दोलन के समय जो अपने को तुर्क, ईरानी व अफगान मानते थे, को स्वतन्त्रता संग्राम से पूरी तरह जोड़ने का दिखता है। परन्तु हैडगेवार जी और उनके मित्रों का गाँधी जी की बात से समाधान नहीं हुआ और काफी विचार करने के उपरान्त उन्होंने १९२५ में 'राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ' की स्थापना की।

मेरा अपना ख्याल है कि गाँधी जी ने जब यह सुना होगा तो वह कुछ झुंझलाये भी होंगे, कुछ गुस्सा भी हुए होंगे, पर ऐसा नहीं कि कुल मिलाकर उन्हें अच्छा नहीं लगा होगा। उन्हें अच्छा भी लगा होगा। क्योंकि उन्हें इसमें कुछ साहस और वीरता दिखाई दी होगी। कोई कुछ तो कर रहा है न! कुछ भी न करना तो सबसे खराब बात है — यह उनका मानना था। वह तो अहिंसक थे, अहिंसा की बात करते थे लेकिन कुछ करो ही नहीं तो हिंसा ही कर लो। लेकिन छुट–पुट हिंसा मत करो, करनी हो तो बड़ी हिंसा करो। अहिंसक ढंग से जीत सकते हो तो जीतो लेकिन यह नहीं कि अहिंसक ढंग से नहीं जीत सकते तो हाथ पर हाथ धर कर बैठ गये — यह उनका मत नहीं था। इसलिये जो लोग उनके खिलाफ या विपरीत रास्तों पर भी चलते होंगे लेकिन कुछ–न–कुछ करते होंगे, मेरा मानना है महात्मा गाँधी को वे लोग अच्छे ही लगते होंगे।

गाँधीजी ने जो किया, बड़ा काम किया। इस देश को समझा। मेरा तो अपना ख्याल यह है कि उनके जैसा आदमी हजार दो हजार वर्ष में, हमारे देश में, राजनीति और समाज के क्षेत्र में नहीं हुआ है। अध्यात्म के क्षेत्र की बात मैं नहीं कर रहा। अध्यात्म के क्षेत्र में तो हमारे यहाँ बहुत लोग हुए होंगे और उनमें से कुछ गाँधी जी से ऊँचे भी रहे होंगे। और वैसे भी गांधीजी ने कभी यह दावा भी नहीं किया कि अध्यात्म के क्षेत्र में उनका कोई बड़ा अधिकार है। हालांकि वह मोक्ष आदि की बात अवश्य करते हैं; लेकिन इस देश और समाज की समझ और विदेशी लोगों की समझ, उनकी व्यवस्थाओं, उनकी कूटनीति की समझ गांधी जी से ज्यादा, मुझे नहीं लगता, किसी और में रही है। मुझे नहीं लगता जवाहरलाल नेहरू इन चीजों को ज्यादा समझते थे। नेहरू तो पश्चिम वालों की कूटनीति





को भी नहीं समझते थे। वे तो अपने को पश्चिम वालों का सम्बंधी मानते थे। उनकी पहले की और बाद की तमाम बातों से ऐसा ही निष्कर्ष निकलता है। खैर, जवाहरलाल जी जैसे दो–चार लाख लोग तो हमारे यहाँ रहे ही होंगे। वे अकेले नहीं थे।

गांधीजी ने समाज और राजनीति के क्षेत्र में क्या–क्या किया, यह तो आप लोगों के समझने की बात है। मैं तो सुदर्शन जी से दरख़्वास्त करूँगा कि गांधीजी को समझा जाए और उनका विश्लेषण किया जाए। इस समाज और देश को उनकी क्या देन है? इसका समय आ गया है। उनको गए ५२–५३ वर्ष हो गए हैं। यह तो बहुत अधिक समय हो गया है। यूरोप और अमरीका में तो १० वर्ष बाद ही पोस्टमार्टम होने लगता है। तो हमें भी कुछ करना चाहिए। उसमें से कुछ निकलेगा और बड़ी चीज निकलेगी।

गांधी जी ने १९२० तक काँग्रेस को, एक नया विचार व संविधान देकर, उसे अंग्रेजी पढ़े–लिखे लोगों के ३५ वर्ष पुराने जमघट से निकाल कर, देश के साधारण लोगों के आन्दोलन का रूप दे दिया। लेकिन जैसा कि हमेशा होता है, मनुष्य जो कुछ भी बनाता है वह अधूरा ही रहता है। उस बने से तत्काल कुछ काम तो हो जाते हैं, लेकिन काफी काम अधूरे रह जाते हैं। यही गाँधी जी के द्वारा बनाये रास्तों, व्यवस्थाओं, संस्थाओं इत्यादि के साथ भी हुआ, ऐसा कहा जा सकता है। उनकी बनायी काँग्रेस ने २०–२५ वर्ष देश के लिये बहुत कुछ किया। देश के जन–साधारण में उत्साह उत्पन्न हुआ, साहस जागृत हुआ और काफी निडरता आयी।

उनके विचारों के असर में अनगिनत नारियाँ, शायद कई शताब्दियों के बाद, फिर से सामाजिक जीवन में वापस आयीं। वैसे गांधीजी ने बड़ा काम तो दक्षिण अफ्रीका में ही कर दिया था। वहाँ पचास हजार के करीब हिन्दुस्तानी थे, उनको प्रोत्साहित किया। साथ ही उन्होंने स्त्रियों को प्रोत्साहित किया, उनके घरों में गये, दो–चार हजार स्त्रियों से बातें भी कीं। मजदूर स्त्रियों के घर जा कर बातें कीं। यह काम उन्होंने भारत आकर भी किया और यहाँ उनमें से बहुत–सी स्त्रियाँ आगे भी निकलीं। सभी उनके बताये रास्ते पर चलीं, यह सवाल नहीं है। सवाल यह है कि वे आगे बढ़ गयीं। आगे बढ़ कर वे क्या करती हैं, ये उनके ऊपर निर्भर करता है, क्योंकि किसी का काम तो तय नहीं किया जा सकता। और अगर आज आप उसको तय कर भी दें तो आने वाली पीढ़ी उसको करेगी या नहीं, यह निश्चित नहीं किया जा सकता।

अस्पृश्यों एवं अंत्यजों के लिये स्वामी दयानन्द कुछ बातें किया करते थे, दूसरे लोग भी किया करते थे लेकिन भारत में छुआछूत की जो पद्धति चल रही थी, वह मुख्यत:

गाँधी जी के प्रयासों से ही हल्की पड़ी। गांधीजी ने अस्पृश्यों के लिए जो लग कर काम किये, वह इसलिये संभव हुए कि वे इस स्थिति में पहुँच गए थे कि कुछ काम कर सकते थे। अस्पृश्यता हटाने में अनेकों का हाथ रहा लेकिन गांधीजी ने इसे लेकर जो–जो काम किया, उससे अस्पृश्य समाज के रास्ते खुल गये और अपना रास्ता तय करना उनके लिये आसान हो गया। १९२५–३५ के जमाने में तो वही हिन्दुस्तान के राजा थे। अंग्रेज तो नाम के राजा थे, असली राजा तो महात्मा गांधी ही थे। उन्होंने अस्पृश्यों के पक्ष में अनेक फैसले करवाये, जो हो सकता है उनको अधिक पसन्द न आये हों, और वे बाद में गांधीजी से नाराज भी हुए हों, लेकिन उनके लिये जो रास्ते खुलवाने थे वे महात्मा गाँधी ने खुलवा ही दिये। उन रास्तों के खुलने के बाद फिर डॉ. अम्बेडकर जैसे लोग भी बड़ा काम कर सके और अन्य लोग भी कर सके। आजकल श्री कांशीराम कर रहे हैं। और भी कर रहे होंगे। मुझे नहीं मालूम। आज बहुत से अस्पृश्य कहे जाने वाले वर्ग हैं, उनके इंटलेक्चुअल सेन्टर होंगे, उनका पश्चिमीकरण भी हो रहा होगा, ईसाइकरण भी हो रहा होगा। आप लोग भी उनके साथ मिलकर कुछ काम तो करते होंगे। दलित शब्द ही हमें १९२० के करीब अंग्रेजों से मिला है। अंग्रेजों ने जिन–जिन समूहों एवं जातियों को दलित कहा, उनमें से अधिक तो कभी भी भारतीय समाज के लिए अंत्यज्य व अस्पृश्य नहीं थीं।

इस बार मैंने कुछ दस्तावेज़ देखे हैं, खासतौर पर दक्षिण के दस्तावेज। मेरी अपनी समझ में भारत में व्यापक अस्पृश्यता पिछले २००–३०० वर्षों से ही रही है। मनुस्मृति इत्यादि में अवश्य कहा गया है कि जो अपने वर्ण से गिर जाता है, वह अंत में अस्पृश्य बनता है। महाभारत में अश्वत्थामा भी, पांडवों के बच्चों की हत्या के बाद, शायद ऐसे ही अस्पृश्य माना गया। वैसे पुराणों में दिये गये भृगु–भारद्वाज संवाद इत्यादि से लगता है कि वर्णो के आपसी संबंधों के बारे में भारत में भिन्न–भिन्न विचार हमेशा ही रहे हैं।

दक्षिण में १७०० से लेकर १७५० ई. के समय में अस्पृश्य करके कोई खास समूह नहीं हैं। परन्तु ये लोग अंग्रेजों द्वारा मारे जा रहे हैं, घटाये जा रहे हैं। जिन्हें आज दलित कहा जाता है वे तो उस समय सेनानी लोग हैं। गाँव की अपनी पुलिस है और ये लोग पुलिस का काम करते हैं। स्थानीय सेना में ये लोग हैं। पुलिस का काम पेरियार करते हैं, चर्मकार करते हैं। ये अपने को बहादुर सिपाही कहते हैं। ये ग्रामों और नगरों में लोगों की जमीन के झगड़ों को निपटाने का काम भी करते हैं – जमीन मापने, अनाज मापने इत्यादि का काम ये लोग करते हैं। १७७० ई. का एक दस्तावेज है जिसको वारेन हेस्टिंग्स ने मद्रास से कलकत्ता वापिस जाने से पहले तैयार करवाया था, उसमें ये आज दलित कहे जाने वाले





लोग कह रहे हैं कि ''वी ऑर ग्रेट सोल्जर्स, वी आल्सो मेक सेंडल्स''। तो उनकी तो अपनी एक आत्मछवि, एक 'सेल्फ इमेज़' है। ये 'सेल्फ इमेज़' बड़ी चीज है। अब होता यह होगा कि ब्राह्मण उनके बारे में कुछ और कहता होगा, लेकिन ब्राह्मण उनके बारे में क्या कहता है उससे तो काम नहीं चलता न! महत्वपूर्ण यह है कि वे अपने को क्या मानते हैं। ये जो आज गिरी हुई जातियाँ कही जाती हैं, उनकी उस समय 'सेल्फ इमेज़' तो बहुत ऊँची दिखती है।

आंध्र प्रदेश में एक जिला है आदिलाबाद। वहाँ एक 'कला आश्रम' नाम का एक आश्रम है जिसे रविन्द्र शर्मा नाम के व्यक्ति चलाते हैं। उन्होंने 'फाइन आर्ट्स' से बी०ए० वगैरह किया है। वे वहीं के रहने वाले हैं और आदिलाबाद क्षेत्र की ५०–५२ जातियों की बात करते हैं। ५–६ वर्ष पहले वह मेरे पास आए थे। बातचीत में उन्होंने बताया कि ये जो जातियाँ हैं इनकी सबकी अपनी–अपनी कथायें हैं। इनका अपना संगीत है, संगीत के अपने इन्स्ट्रयूमेन्ट्स हैं। इन जातियों से संबंधित हजारों हजार तस्वीरें हैं, कपड़ों पर बनी हुई, जिनमें इनकी पूरी कथा कही गई है। लेकिन उन्होंने कहा कि ये भिक्षावृत्ति के लोग हैं। इस पर मैंने पूछा कि भिक्षावृत्ति के किस प्रकार से हैं? तो उन्होंने कहा कि कहीं न कहीं से तो कुछ लेंगे न? इसलिये अपने लोगों से लेते हैं। तो जैसे अपने यहाँ पुराने समय में भाट वगैरह हुआ करते थे, ये कुछ उसी तरह के लोग हैं। उसके बाद रविन्द्र शर्मा एक जाति से संबंधित कुछ चित्र आदि लाए और मुझे दिखाया। इन तस्वीरों में तो मुझे ये लोग राजाओं जैसे दिखे। ऐसा नहीं था कि कोई भिखमंगा या गिरा हुआ दिखता हो। उन्होंने इस जाति की कहानी बतायी कि ये लोग यह मानते हैं कि ये महाभारत में उल्लिखित राजा नहुष की सन्तान हैं। उनसे कभी कोई गलती हो गयी तो वे थोड़ा गिर गये। फिर जब जंगल में पांडव आये तो पांडवों ने इन लोगों से कहा कि किसी को बतलाना नहीं कि हम यहाँ आये हैं। उस समय द्रोपदी उनके साथ नहीं थीं। बाद में जब द्रोपदी आयीं तो इन लोगों ने द्रौपदी को पांडवों का पता नहीं बताया। परन्तु द्रौपदी ने पांडवों को देख लिया और इन्हें श्राप दे दिया। तो ये लोग थोड़ा दुखी हो गये। कुल मिलाकर वे सुखी और समृद्ध ही चित्रित हैं।

इस तरह अस्पृश्य कही जाने वाली जातियों की भी अपने बारे में मान्यताएँ कुछ उपरोक्त प्रकार की हैं। ये मान्यताएँ सही हैं या नहीं, इतिहास में बैठती हैं या नहीं, यह अलग प्रश्न है। इन सब पर तो काम होना चाहिए। हमारे इतिहासकारों को सोचना चाहिए। अब ग्रीक मिथकों में जो कुछ मिलता है, उससे तो यह सब खराब नहीं है; सुन्दर ही है।

आज हमारे विद्यालयों में ग्रीक मिथकों को तो माना जा सकता है, उसे पढ़ाया जा सकता है, उस पर बड़ी–बड़ी डिग्रियाँ मिलती हैं, बड़े–बड़े स्कॉलर बनते हैं। तो इन पर क्यों नहीं बनते? क्यों नहीं डिग्रियाँ मिलतीं? मिलनी चाहिए थीं। कुछ काम होना चाहिये। और इस तरह की बातें हिन्दुस्तान के हर जिले में मिल जायेंगी, ऐसा मुझे लगता है। इन सब पर काम होना चाहिए।

आज हिन्दुस्तान में हमारी अपने बारे में जो तस्वीर बनी है, वह बहुत हद तक अंग्रेजों द्वारा बनायी गई है। ऐसा नहीं है कि यह कोई साजिश वगैरह के तहत किया गया हो। उन्हें राज करना था तो कुछ तो इस तरह करना ही पड़ा होगा, परन्तु एक और भी कारण रहा है। उनका अपना संसार जिस प्रकार चलता था, उसी से उनकी दृष्टि बनी थी और वे हमको भी उसी दृष्टि से देखते थे। इसलिये हमारे लिये जरूरी है कि हम यूरोप को समझें। इससे हमें समझ में आ सकता है कि आज हमारी अपने समाज के बारे में जो तस्वीर बनी है, वह ऐसी क्यों बनी है।

अंग्रेजों ने जब भारत पर १७५० से अपना प्रभुत्व जमाना आरंभ किया, तब से भारत में अस्पृश्यता की भावना बढ़ी, और अधिक से अधिक लोगों को अस्पृश्य माना जाने लगा। तभी से अंग्रेजों ने भारत की स्मृतियों में से अपनी मान्यता और काम के उद्धरण लेने आरंभ किये और हमें बतलाने लगे कि यही आपके शास्त्रों ने कहा है। शुरू के दिनों में यहाँ जब उनके पाँव जमने लगे, उन्होंने बाकी शास्त्रों का अंग्रेजी में अनुवाद कराना बन्द करके मनुस्मृति का अनुवाद जारी रखा। हमारा उनसे २००–२५० वर्षों का संपर्क होते हुये भी, हमारे अधिक पश्चिमीकृत लोगों को भी, यूरोप व इंग्लैंड की पुरानी सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक व्यवस्था के बारे में अधिक जानकारी नहीं है। १९०० ई. तक तो इंग्लैण्ड में ऊँच–नीच की धारणा व्यापक थी। इंग्लैण्ड के ९० प्रतिशत लोग "लोअर ऑर्डर" (निम्न वर्ग) में माने जाते थे, जैसे कि हमारे यहाँ अधिकांश लोग पिछले २०० वर्षों में पिछड़ी व अस्पृश्य जातियों के माने जाने लगे।

भारतवासियों की तो यह मान्यता रही है कि हमेशा से, यानी कि बहुत प्राचीन काल से – श्री रामचंद्रजी के काल के पहले से – वे भारत के वासी रहे हैं। शताब्दियों से इंग्लैंड व यूरोप में ऐसी कोई मान्यता नहीं है। आज से एक हजार वर्ष पहले तक तो यूरोप के अधिकांश क्षेत्रों में यूरोप के बाहर से और यूरोप के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र पर आक्रमण होते रहे। वहाँ पहले से बसे लोगों को अधिकांशत: समाप्त कर दिया जाता था, या जो बचे रह जाते थे उनको दास बना लिया जाता था। इंग्लैण्ड में बाहर का अंतिम आक्रमण उत्तर यूरोप





के नॉरमन लोगों का हुआ। उन्होंने १०६६ ई. के करीब इंग्लैण्ड पर विजय प्राप्त की और २५–३० वर्षों में ही वहाँ की पूरी राजनैतिक व सामाजिक व्यवस्था बदल डाली। इसका परिणाम यह हुआ कि इंग्लैण्ड में पहले से बसे लोग दासत्व की स्थिति में पहुँच गये। उनसे जमीन इत्यादि सभी कुछ छीन लिया गया और ५०,००० के करीब जो नॉरमन वहाँ आकर बसे उन्होंने वहाँ के ९५ प्रतिशत साधनों – जमीन, वन, खानों इत्यादि – को अपना मान लिया और केवल ५ प्रतिशत साधनों को वहाँ के पुराने १० लाख वासियों के पास छोड़ा। इस बदलाव को ही स्थायी करने के लिये जो व्यवस्थायें बनायी गयीं, उन्हीं को अंग्रेज 'रूल ऑफ लॉ' का आरंभ कहते हैं। कमोबेश कुछ ऐसा ही कार्य अंग्रेजों ने जहाँ–जहाँ वे आक्रमणकारी और विजयी रहे वहाँ किया – चाहे वह उत्तरी अमेरीका हो, अफ्रीका के देश हों, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड हो, या भारत और भारत के आसपास के देश हों। जो व्यवस्था व राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक तंत्र भारत में पिछले २०० वर्षों में बना है, वह इसी अंग्रेजी "रूल ऑफ लॉ" की देन है। जो नॉरमन लोगों ने इंग्लैण्ड में किया, वही अंग्रेजों ने दूसरे देशों में किया, जहाँ वे विजयी रहे।

दलित कहे जाने वालों की बात जब मैं सोच रहा था तो मुझे लगा कि अंग्रेज भारत में कुछ ऐसा नहीं कर रहे थे जो वे अपने देश में नहीं करते थे। १९०० तक तो इंग्लैण्ड में यह भावना व्याप्त है कि लोअर आर्डर को तो गरीब ही रहना चाहिए। सबके पास पूरा हो जायेगा तो दान किसे देंगे और ईसाई होने का तो मतलब है कि दान दें। वहाँ इस तरह की मान्यतायें हैं। इंग्लैण्ड के आँकड़े हमें देखने चाहिए – महत्वपूर्ण हैं।

इंग्लैण्ड में मतदान से संबधित सन् १८३२ के आंकड़ों के अनुसार कुल एडल्ट पापुलेशन (शायद २२ वर्ष की आयु के ऊपर के) में ७ प्रतिशत पुरुषों को ही मत देने का अधिकार है। यह मानना है कि पहले से ही सभी को मतदान का अधिकार चला आ रहा होगा, गलत है। अंग्रेज कभी ऐसा कहते भी नहीं हैं पर क्योंकि अंग्रेज अपने बारे में पुरानी बातें नहीं बतलाते, इसलिये हमें वहम हो जाता है। इसके अलावा इंग्लैण्ड में स्त्रियों को वोटिंग का अधिकार तो १९१८ में ही मिला, उससे पहले तो इंग्लैण्ड में स्त्रियों को वोटिंग का अधिकार है ही नहीं। सभी पुरुषों को भी वोटिंग का अधिकार नहीं है। १८८० ई. तक भी कुल एडल्ट पापुलेशन में मात्र २०–२५ प्रतिशत पुरुषों को वोटिंग का अधिकार रहा होगा। तो इस तरह का उनका समाज रहा है।

इसलिए इंग्लैण्ड की आज की शासन–व्यवस्थाएँ, कानून, साधारण लोगों का जमीन व दूसरे साधनों पर अधिकार न होना, इत्यादि १०६६ ईसवी के बाद से वहाँ नॉरमन

आक्रमणकारियों के विजयी होने पर बनीं। इन ९००–१००० बरसों में कुछ–कुछ साधारण बदलाव अवश्य आए, लेकिन मुख्यत: जो १०६६ ईसवी के बाद स्थापित हुआ, जो मान्यताएँ बनीं, वे आज भी इंग्लैण्ड के तंत्र का व लोगों के आपसी रिश्तों का आधार हैं। १८०० के समय में तो इन्हीं के आधार पर इंग्लैण्ड व ब्रिटेन का राज्य व समाज चलता था। ५ प्रतिशत लोग नागरिक थे, ९५ प्रतिशत नहीं। अंग्रेज यहाँ, भारत में शुरू के दिनों में, जो समाज बना रहे थे वह इंग्लैण्ड से नीचे का ही समाज बना रहे थे। १७८०–१७९० ई. के दौरान यह सवाल उठता है कि हिंदुस्तान के किसानों के हक क्या हैं? तो इसके लिये उन्होंने पुराने हिंदुस्तान का अनुसंधान किया, तो खोज में उन्हें १४ वीं सदी से संबंधित अलाउद्दीन खिलजी का कोई दस्तावेज मिला। उसमें खिलजी ने अपने सलाहकारों से पूछा कि ये जो गैर–मुस्लिम प्रजा है, उनके हक क्या हैं? तो उसमें बतलाया गया कि उनका संपत्ति में तो कोई हक नहीं है। फिर पूछा गया कि उनका प्रोडक्शन (उत्पादन) में कितना हक है तो कहा गया कि यदि बादशाह आधा उत्पादन ले लेता है तो कोई गलत नहीं करता।

और किस्सा यह भी है कि १७५० ई. और १८०० ई. के करीब यूरोप के अलग–अलग देशों में किसानों से ५०–८० प्रतिशत तक उत्पादन ले लिया जाता था। इंग्लैण्ड में १७९२ ई. के आंकड़ों के अनुसार खेती में काम करने वाले को तो कुल उत्पादन का मात्र २० प्रतिशत ही मिलता था। तो उन लोगों ने मनुष्य को क्या माना है इसका अंदाजा इससे लगता है। उसी समय अंग्रेजों द्वारा बंगाल में जमींदार बनाये गये। लोगों ने और कुछ अंग्रेज अफसरों ने कहा कि जब हम यहाँ आये थे उस समय तो यहाँ किसानों को उनकी जमीनों से निकाला नहीं जा सकता था। इस पर अंग्रेजों ने कहा कि यह सही है लेकिन फिर भी हमें तो निकालना पड़ेगा। यदि ऐसा नहीं होगा तो जमींदारों को हमें जो कर इकट्ठा करके देना है, वह कैसे देंगे? फिर यह भी तर्क दिया कि इंग्लैण्ड का जमींदार अपनी सरकार को कुल उपज के १० प्रतिशत से ज्यादा कर नहीं देता, फिर भी उसे खेतिहर को निकाल देने का अधिकार है और यहाँ भारत में जमींदार को कुल उपज का ५० प्रतिशत से भी ज्यादा अग्रेजों को देना पड़ता है, तो यदि जमींदार किसानों से कर वसूल नहीं कर पायेंगे तो देंगे कहाँ से? इस पर ब्रिटिश हाऊस ऑफ कॉमन्स की कमेटी ने यह फैसला किया कि भारत के किसानों का हक इंग्लैण्ड के किसानों के हक से बड़ा नहीं हो सकता।

इसके पहले के जमाने में जाएँ तो पता चलता है कि औरंगजेब के हिसाब से जहांगीर को साम्राज्य के कुल कर का ५ प्रतिशत के करीब – ६० लाख रुपये वार्षिक – ही मिलता





था। शाहजहां के समय में कुछ बरसों के लिये यह शायद ५ प्रतिशत से बढ़कर १० प्रतिशत तक पहुँच गया। औरंगजेब ने उसे और बढ़ाया लेकिन इतनी सब कशमकश के बाद – जिसके कारण उसके सूबेदार, राज्यकर्ता और प्रजा बहुत असंतुष्ट एवं उसके विरुद्ध हुये – उसको जो कर का भाग पहुँच पाया, वह कभी भी कुल कर के २० प्रतिशत से अधिक नहीं रहा। शेष हिस्से (८० से ९५ प्रतिशत) का क्या होता था, इस संदर्भ में हम बहुत अधिक नहीं जानते। एक आधुनिक राजनैतिक मान्यता के अनुसार यह सब सामन्तों और सामन्ती व्यवस्था में चला जाता था। मेरी जानकारी में इतिहासकारों ने इस पर कोई विशेष काम नहीं किया है।

१७७०–१७८० के बंगाल में अंग्रेजों द्वारा कर के विषय पर किये गये एक सर्वेक्षण के अनुसार अधिकांश जिलों में खेती की आधे के करीब उपजाऊ जमीन से सरकार को कोई भी कर नहीं दिया जाता था, बल्कि ऐसी जमीनों का कर बहुत प्राचीन समय से ही, वहाँ के स्थानीय आधारभूत ढाँचे के रखरखाव पर खर्च होता था। बंगाल के एक जिले में (शायद बर्दवान में) १७८० में ऐसे व्यक्तियों व प्रतिष्ठानों की संख्या जो ऐसे कर पर अपना पुराना अधिकार मानते थे, पचास हजार से ऊपर थी। यही स्थिति दक्षिण भारत में भी पायी जाती है। ऐसा लगता है, कि जहाँ–जहाँ से कर प्राप्त होता था, वहाँ–वहाँ कर का एक बड़ा भाग स्थानीय कार्यों के लिये रख लिया जाता था। इनमें सिंचाई, हिसाब–किताब, सुरक्षा, मंदिर, मठ, धर्मशालाएँ, क्षेत्रम, शिक्षा, चिकित्सा के अतिरिक्त लोहार, बढ़ई, धोबी, नाई, ज्योतिष, पुलिस और १०–२० अन्य लोगों को मिलने वाले खर्चे होते थे। यह कुल मिलाकर खेती की उपज का २५ से ३० प्रतिशत होता था। कर का शेष भाग ऊपर के स्तरों पर जाता था और अंत में बचा भाग स्थानीय राजा महाराजा को व दिल्ली के बादशाह को। बंगाल के मंदिरों, मठों, ब्राह्मणों इत्यादि जिनकी ऐसे उत्पादनों व करों में भागीदारी थी, उनकी १७७०–१७८० में संख्या बंगाल की मस्जिदों, मजारों इत्यादि से ९–१० गुना ज्यादा थी। इससे लगता है कि मंदिर, मठ इत्यादि ऐसे भागीदार इस्लाम के समय से पहले से ही चले आ रहे थे। इस्लामिक राज्य उसे विशेष बदल नहीं पाया, केवल उसने मजारों, मस्जिदों के लिये भी कुछ छोड़ दिया।

व्यवस्थायें राजनीति से जुड़ी होती हैं। राज्य और समाज जब मिलकर चलता है तभी चल पाता है। व्यवस्थायें यहाँ अंग्रेजों से पहले भी टूटी हैं। मुझे ऐसा लगता है कि १७०० ई. के करीब शिवाजी के कारण तथा अन्य तमाम कारणों से जब औरंगजेब का शासन गिर पड़ा, तो महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, बंगाल के कुछ हिस्सों में, उत्तर प्रदेश, (दक्षिण में तो

सवाल पैदा नहीं होता क्योंकि दक्षिण में तो मुसलमानों का कभी कुछ बड़ा प्रभाव हुआ ही नहीं) आदि स्थानों पर लोग खड़े होने लगे। नये राज्य खड़े होने लगे, कुछ नया बनने लगा, लेकिन हिंदुस्तानी चाल से, धीमे–धीमे। इसके करीब ५० वर्षों के बाद से बाहर का हमला शुरू हो गया। १७४४ के करीब अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच दक्षिण में लड़ाई शुरू हो जाती है। इस लड़ाई में अंग्रेज अर्काट के नवाब को भी उलझा लेते हैं। और फिर बूढ़ा नवाब मर जाता है। तो दो दावेदार आगे आते हैं। एक पुराने नवाब का दामाद है जबकि दूसरा उसका पोता है। पहले वाला जिसका नाम चंदा साहब है। उसकी उम्र ४२ वर्ष की है और दूसरा जिसका नाम मौहम्मद अली है वह १६ वर्ष का है। अंग्रेज १६ वर्ष के मौहम्मद अली के पक्ष में आ जाते हैं, फ्रांसीसी चंदा साहब के। परन्तु फ्रांसीसी हार जाते हैं। १७४८ से अंग्रेज इस नवाब को अपने साथ लेकर दक्षिण की विजय यात्रा पर निकलते हैं। नाम नवाब का है पर सेना अपनी है, काम अपना है। उसके लिये जो खर्चा चाहिये, उसको अंग्रेज जहाँ–जहाँ विजय करते हैं वहाँ की लूट से व करों से पूरा कर लेते हैं। नवाब को भी कर्ज देते रहते हैं जो वह अंग्रेजों की सैनिक मदद में व उनकी खातिरदारी में खर्च करता है। नॉमिनल काम काज चलता रहता है। यही पैटर्न आखिर तक, मतलब १९ वीं सदी के अंत तक, हिंदुस्तान में चलता है। बात यह है कि अंग्रेजों का १६ वर्ष से ऊपर के नवाबों और राजाओं से बैठता नहीं था। मुश्किल आती थी, फिर उसे हटा देते थे और किसी बच्चे को नवाब बना देते थे, उसकी माँ को उसका गार्जियन बना देते थे। अंग्रेजों का इस संबंध में एक दस्तावेज है। १७७२ में हारलैण्ड नामक एक ब्रिटिश सरकार का एक बड़ा अफसर आया है जिसके सामने नवाब रोना रो रहा है। हारलैण्ड लंदन रिपोर्ट करता है। क्या–क्या कहता है? जो भी ज्यादतियां हो सकती हैं, वो सब इसमें आ गयी हैं। जैसे फोर्स्ड लेबर (बेगार), ५० प्रतिशत वार्षिक ब्याज पर कर्ज देना, मारना–पीटना, लोग खेती कर रहे हैं उनकी खेती छुड़वा कर उनके बैल ले जाना, क्योंकि उनको (अंग्रेजों का) सामान ढोना है। ये सारा कुछ बड़े पैमाने पर चल रहा है। शायद १७०० से ही यूरोप का यह प्रयास भारत में रहा कि भारत में वीरता व शौर्य न रहे। इसी को लेकर महाराष्ट्र के नौसेनापति आंगरे को १७५४ के करीब समाप्त किया गया। इसमें अंग्रेज सेना, अफसर सभी शामिल हैं। गवर्नर जनरल भी शामिल हैं क्योंकि वे सब यहाँ यही करने के लिये आये हैं।

कहने का मतलब यह है कि १८०० के करीब से बहुत सारे फैसले अलग–अलग विषयों पर होते चले गये। जैसे इंग्लैण्ड में, कोड़े मारने का रिवाज रहा तो यहाँ भी कोड़े





मारने का रिवाज लागू किया गया। अंग्रेज अफसर अपने नौकरों को पीटते थे। हिंदुस्तान में, यहाँ तक कि मुसलमानी राज्य में भी, नौकरों आदि को इस तरह पीटने का रिवाज नहीं था। साधारणतः बहुत से भारतीय तो कोड़ा देखते ही मर गये। भारतीय विद्या के विद्वान माने जाने वाले तथा कलकत्ता स्थित सुप्रीम कोर्ट के जज रहे विलियम जोंस तो यह कहते हैं कि यदि कोई अंग्रेज किसी नौकर को कोड़े मारता है परन्तु उसकी नौकर को जान से मार डालने की कोई मंशा नहीं है, फिर भी वह इस कोड़े की मार से मर जाता है तो उसमें मारने वाले का कोई कसूर नहीं माना जा सकता है। यह जो कोड़े मारने का कानून है, इसके अनुसार इंग्लैण्ड में तो १८५० तक फौज में २००० कोड़े मारने तक की सजा दी जाती रही। ये सब १८६० तक तो बराबर चलता ही रहा और ५००–७०० कोड़े की सजा ब्रिटेन की फौज में सामान्यतः दी ही जाती थी। वहाँ का दूसरा उदाहरण है कि १७ वीं सदी में जब यह पता चला कि एक रेजीमेंट में कुछ हुक्मउदूली हो गई, पर यह पता नहीं चल सका कि किसने हुक्मउदूली की, तो पूरी रेजीमेंट को लाइन किया गया और फिर प्रत्येक १० वें आदमी को बाहर निकाला गया और उनको गोली मार दी गई। दोबारा रेजीमेंट को लाइन किया गया, फिर प्रत्येक १० वें आदमी को बाहर निकाला गया और उनको भी गोली मार दी गई। ऐसा काफी देर तक होता रहा। ये समझने की बात है कि उनके यहाँ क्या किया जाता था। उनके यहाँ तो लोगों को तोप के मुँह पर बाँधकर पीछे से गोला चला कर उड़ा दिया जाता था। यह सब १७६० तक तो बराबर इंग्लैण्ड में चलता था। इंग्लैण्ड में, यूरोप में ये जो सब चलता था, वह इसलिये कि प्रजा को आतंकित करना है। इंग्लैण्ड की या योरोप की जो प्रजा है वह अधिकांशतः आतंकित (टेररिाइज्ड) प्रजा है। इंग्लैण्ड की प्रजा कुछ ज्यादा ही आतंकित रही है।

१७७०–८० के दौरान एडिनबरा में एक माडर्न फिलॉसफी के प्रोफेसर हैं, प्रो. एडम्स फर्गूसन, इन्हें ब्रिटिश सोसियोलॉजी का फाउण्डर भी कहा जाता है, उनके कई शिष्य भारत में भी हैं। उनके सामने यह सवाल उठता है कि भारत का शासन कौन चलाये? इस पर फर्गूसन कहते हैं कि भारत के शासन को चलाने व भारत से यूरोप में धन ले जाने का काम तो प्राईवेट लोग ही कर सकते हैं। सरकारी तंत्र के द्वारा तो यह मुश्किल होगा, क्योंकि यदि सरकारी अफसर अधिक ज्यादतियाँ करेंगे, गलत रास्तों पर चलेंगे तो सरकार को इन्हें रोकना पड़ेगा। अगर सरकारी तंत्र नहीं होगा, ईस्ट इंडिया कम्पनी की तरह का तंत्र होगा, तो इन ज्यादतियों की अनदेखी की जा सकती है। फिर उन्होंने कहा कि ऐसा करो कि यह लूटकर धन लाने का काम तो कम्पनी के नौकरों के द्वारा ही चले, प्राईवेट स्तर से हो, लेकिन

कम्पनी को हुक्म देने व सुपरविजन का काम सरकार द्वारा बनायी व्यवस्था करे। आरम्भ के दिनों में तो ब्रिटेन की सरकार कम्पनी से बिना ब्याज पर कर्ज लेती थी। ये जो पुस्तकों में लिखा है कि हिंदुस्तान का शासन कम्पनी चलाती थी, यह पूरी तरह से असत्य है। कम्पनी तो सरकार द्वारा बनवाई गई। उसको सरकार द्वारा प्रोटेक्शन दिया जाता था। नौ–सेना या सेना द्वारा मदद दी गई।

इसी आधार पर १७८४ में एक एक्ट बना जिसके तहत 'बोर्ड ऑफ कमिशनर्स फॉर अफेयर्स ऑफ इंडिया' बना। इसमें छह मिनिस्टर स्तर के व्यक्ति होते थे। आरम्भ में ब्रिटिश प्राईम मिनिस्टर भी उसका सदस्य होता था। इस बोर्ड का काम यह था कि इंग्लैण्ड से जो निर्देश हिन्दुस्तान जाते हैं, उसका ड्राफ्ट तो कम्पनी बनाये फिर कम्पनी उसे बोर्ड को भेजे। फिर बोर्ड उसका एक–एक शब्द देखे। किन्तु असल में होता यह था कि बोर्ड और कम्पनी के प्रतिनिधि साथ बैठकर ड्राफ्ट बना लेते थे फिर उसको फार्मली बोर्ड के पास भेजा जाता था। बोर्ड ८०–९० प्रतिशत ड्राफ्टों को तो जैसे–का–तैसा ही जाने देता था, कोई कठिनाई नहीं होती थी। हाँ, कभी–कभी १० प्रतिशत पर कठिनाई होती थी। तब ड्राफ्ट बदल दिया जाता था। कभी–कभी कम्पनी यह कहती थी कि हम इसमें राजी नहीं हैं तो उनके रजिस्टर में लिख दिया जाता था कि वह राजी नहीं है। हिंदुस्तान में जो निर्देश गए उसमें तो लिखने का सवाल ही नहीं था। लेकिन जो महत्वपूर्ण पत्र व्यवहार है वह बोर्ड के प्रेसीडेण्ट और हिंदुस्तान के गवर्नर जनरल के बीच होता था। उसको प्राईवेट पत्र व्यवहार कहा जाता था। वही मुख्य था। पहले गवर्नर जनरल वहाँ से ब्रीफ होकर आता होगा, फिर यह पत्र व्यवहार चलता होगा। हमारे यहां रखे लेखागारों में बाकी सब कागज है परन्तु ये पत्र–व्यवहार हमारे यहाँ नहीं हैं। इसके अलावा ब्रिटिश कैबिनेट के पॉलिसी डिसीजन के कागजात वगैरह भी हमारे यहाँ नहीं हैं। अंग्रेजों के लिखे हुए ९५ प्रतिशत कागजात तो हमारे यहाँ हैं लेकिन उससे काम नहीं चलेगा। हमें तो यह सभी कागजात मंगवाने पड़ेंगे जो हमसे संबंधित हैं, चाहे जहाँ से मंगवाने पड़ें।

१८५० के करीब, मद्रास प्रेसीडेंसी से – और उस समय मद्रास प्रेसीडेंसी बहुत बड़ा इलाका है उसमें पूरा तमिलनाडु, आज का आधा आंध्रप्रदेश या पूरा कोस्टल आंध्रप्रदेश, शामिल था, कर्नाटक के कुछ जिले थे मालाबार आदि सब उसमें शामिल थे – लंदन यह शिकायत गई कि वहाँ ४०–५० वर्ष में एक तिहाई सिंचाई वाली जमीन खेती से निकल गई है। क्यों निकल गई? क्योंकि सरकार उस पर जो कर लेती है, वह कर उपज से ज्यादा होता था। इसलिये लोग पानी वाली जमीन छोड़कर ऊसर जमीन पर खेती करने लगे। इसके





कारण सरकार को दिये जाने वाले कर पर भी असर पड़ा। इन बातों के कारण किसानों व खेतिहरों को भयंकर यातना दी जाने लगी। लेकिन अंग्रेज कहते हैं कि ये तो हिंदुस्तानी नौकर करते हैं, हम नहीं करते। जितने सरकारी निर्देश हो सकते थे, उतने दे दिए। इनके सबके दस्तावेज हैं। बाद में, १८५८ में जब सब ठंडा हुआ तो उस समय लंदन से निर्देश आया कि बहुत से लोग मर गये, बहुत लोग खत्म हो गये हैं तो अब यह बड़ा कत्लेआम बंद होना चाहिए। फिर कहते हैं कि हिंदुस्तानी लोग तो मरने से तो नहीं डरते परन्तु ये शारीरिक यातनाओं से घबराते हैं। मतलब यह कि यातना दो।

क्रमशः कोई एक सौ बरस बीतते–बीतते भारतीय व्यवस्थायें बिखरती चली गईं। और किसी स्टेज में आकर, कहीं १८७० में तो कहीं १८८० में, अलग–अलग जगहों पर अलग–अलग समय, हिंदुस्तान के लोगों में यह मान्यता हो गई कि हम तो गये, अब हम से तो कुछ होना नहीं है, इन्हीं का राज अब चलेगा। बचपन में मैं एक कहानी सुनता था कि सीताजी हनुमान एवं उनके वंशजों को यह वरदान दे गयी थीं कि भविष्य में उनका ही राज चलेगा। और ये अंग्रेज हनुमान के वंशज हैं, देखो वैसे ही तो दिखते हैं इसलिये अब यही राज करेंगे! यह सब बात कैसे उड़ी, यह पता नहीं – शायद अंग्रेजों ने ही इस तरह की बात उड़ाई हो। पर हिंदुस्तानियों में शायद ऐसा कुछ बैठ गया कि इन्हें हटाना बहुत मुश्किल है।

इस तरह हमारा समाज, तंत्र, प्राईवेट तरीके आदि टूटते चले गये, उन्हें नीची निगाह से देखा जाने लगा। हम अपने काम छिपाकर करने लगे। जैसे कोई मंदिर जाता है या पीपल के पेड़ को पूजता है तो क्योंकि उसे नीची निगाह से देखा जाता है, इसलिये वह बताना नहीं चाहता कि वह वहाँ गया था। अब यदि आप उससे पूछें तो उत्तर मिलता है कि नहीं–नहीं हम तो ऐसे ही चले गये थे, आदि। हर भारतीय को हीन बनाने के प्रयास हुये हैं। फिर भी, कुछ लोग अभी भी उनमें बचे हैं। कुछ में शक्ति है, एकदम से टूट नहीं गये हैं। लेकिन व्यवस्थायें टूट गयी हैं।

सन् १८५७ की कोशिश के बाद, जिसमें २०–५० लाख भारतीय मारे गये थे, अंग्रेजों के लोग भी मारे गये थे और उससे पहले भी बीच–बीच में, हर ४–५ साल में सेना के रेजीमेंटों में विद्रोह होते रहते थे। १८५८ से अंग्रेजी राज्य का भयंकर आंतक चला। इन सबका अंग्रेजों से एक बदला जैसा लेने के लिये, गौवध के खिलाफ एक देशव्यापी आंदोलन १८८० के करीब से चला। वैसे १७८० के करीब उदयपुर, जयपुर, जोधपुर आदि के राजाओं ने अंग्रेजों से कहा कि यदि हम आपसे समझौता करते हैं, आपके मातहत होते

हैं, तो आप हमारे यहाँ गाय मत काटिये। इसको ट्रीटी में लिखने की बात भी, बाद में १८१८ में हुई लेकिन अंग्रेजों ने नहीं लिखा, केवल आश्वासन दिया कि जहाँ तक हो सकेगा उनके क्षेत्र में गाय नहीं काटेंगे। इस देशव्यापी आंदोलन में लोग खड़े हो गये। इस आंदोलन से संबंधित इंटेलीजेन्स रिपोर्ट आदि सब है। १८९३ ई. में जब यह आन्दोलन अपनी पराकाष्ठा पर था, इसमें करोड़ों भारतीय सम्मिलित रहे होंगे। उन दिनों ब्रिटिश महारानी ने भारत में अपने प्रतिनिधि वॉयसराय लैन्सडाउन को लिखा कि यह आन्दोलन भारतीय मुसलमानों के खिलाफ नहीं है, जो कि गायों को बहुत कम मारते हैं। यह आन्दोलन तो हम अंग्रेजों के खिलाफ है, जिनके लिए ही भारत की गायों का इतना अधिक कत्ल होता है। इस आन्दोलन में काफी संख्या में मुसलमान भी सम्मिलित थे। साधारण किसान, कारीगर, व्यापारी, बहुत से राजा, हजारों भारतीय सरकारी कर्मचारी और संन्यासी तो शामिल थे ही। दक्षिण के एक संन्यासी श्रीमन् स्वामी का इस आन्दोलन में बड़ा योगदान माना जाता है। गायों को इतने बड़े पैमाने पर काटे जाने में मुसलमानों का इतना ही काम रहा कि वे सेना के कत्लखानों में काम करते थे और गायों को खरीदने के बाद उन्हें हाँक कर कत्लखानों में ले जाते थे। मन से अधिकांश मुसलमान भी गौवध के खिलाफ थे ऐसा दस्तावेजों में दिखता है। लेकिन अंग्रेजी कूटनीति ने इस तरह का खेल खेला कि गायों को मारने की सम्पूर्ण जिम्मेदारी मुसलमानों की दिखने लगी। और कुछ ही महीनों के बाद साम्प्रदायिक दंगे होने के कारण इस आन्दोलन को १८९४ में बन्द होना पड़ा। फिर १९१६ में और बाद में समय–समय पर आगे भी यह आंदोलन खड़ा होता है, लेकिन तब तक तो और भी प्रश्न खड़े हो गये हैं। कुछ हिन्दुस्तानी भी अंग्रेज बन गये हैं।

आज जो कुछ खोज है शिक्षा में, तकनीक आदि में, वो सब तो पश्चिम के विद्वानों की खोज है। परन्तु १७५० में दुनिया के कुल औद्योगिक उत्पादन का ७३ प्रतिशत उत्पादन भारत और चीन के क्षेत्र में होता था और १८३० में भी यह ६० प्रतिशत तक था। यह कोई जरूरी नहीं कि यह कोई हाई टेक्नोलॉजी की प्राब्लम हो। हमारे यहाँ समृद्धि थी, काम था, हमें तरीके आते थे, ये सब एक सक्रिय समाज की निशानियाँ थीं। मैं तो यह मानने लगा हूँ कि महात्मा गांधी ने यह जो कहा है कि हमारे पूर्वज यह जानते थे कि जटिलता में जाने से तो खराबी ही होती है, आदमी खराब होता है, आत्मा खराब होती है, उसमें फँसना नहीं चाहिए। हमारे यहाँ तो साधारण व जिससे काम चले, ऐसे तरीकों से ही उत्पादन होता रहा होगा। यह स्वभाव होता है। हमारा भारी मशीनरी वाला स्वभाव नहीं है। जवाहरलाल नेहरू का ऐसा स्वभाव बन गया था क्योंकि वह इंग्लैण्ड में रहे तथा घर में





उनकी काफी देखभाल अंग्रेजों ने की। ऐसा ही अन्य हजारों भारतीयों के साथ, जिनका पश्चिमीकरण होता गया, उनके साथ भी हुआ होगा।

ये जो सब बिगड़ा है, एक तो यह कैसे बिगड़ गया, और दूसरा अब क्या किया जा सकता है? एक तो १७५० में जैसा था, जो चरखा आदि चलता था, तो वैसा कर लो पर फिर वैसा करना संभव भी है या नहीं? हमारे पास इसके लिये साधन हैं या नहीं? दूसरा कुछ और किया जा सकता है क्या? तो वो जो सोचने का काम है, वो तो करना होगा। लेकिन नकल करके नहीं। हम नकल बहुत करते हैं। आज तो जो कुछ भी हिंदुस्तान में है, वह सब नकल करके ही बना है। जो कुछ भी ढांचा (infrastructure) है – सेना, अस्पताल, सरकार का ढाँचा, बैंक, बीमा कम्पनियाँ आदि – सभी कुछ नकल करके ही बनाया है। स्कूल, कालेज, यूनीवर्सिटी आदि सभी कुछ। अंग्रेजों ने जो १७५० के बाद से दिया, वही सब है। बाद में अमरीका, जर्मनी आदि से लिया गया है। लेकिन नकल ही है, इससे ज्यादा कुछ नहीं है। यह है कि हम कुछ बना लेते हैं, कुछ साफ्टवेयर बना लेते हैं लेकिन हमने अपना कम्प्यूटर नहीं बनाया। कम्प्यूटर इस तरह से बनने के बजाय उस तरह से भी बन सकता है, ऐसा हमने नहीं सोचा। यह नहीं सोचा कि हवाई जहाज ऐसे नहीं, वैसे भी बन सकता है। यह सब नहीं सोचा। यह सब सोचने का काम नहीं किया। एकबार मैंने आप में से ही किसी से पूछा कि बात क्या है? हम क्यों नहीं कुछ करते? तो उन्होंने कहा, हमारे लोग तो यह कहते हैं कि ये प्रश्न तो सारे संसार के हैं, वो लोग कुछ करेंगे तो हम उसकी नकल कर लेंगे। तो मैंने कहा कि वो लोग तो पाँच–सात चीजों में ही करेंगे न, हमारे प्रश्न तो हजारों हैं, उनका क्या होगा? हमें हजार चीजों में करने की जरूरत है। यदि हम कुछ करेंगे नहीं, तो इसमें से निकलेंगे कैसे? फिर बात समाप्त हो गई।

यदि हमें पश्चिमी की ही राह पर चलना है और हमने यह मान लिया है कि इस काल में पश्चिम की ही बात चलने वाली है, तो ठीक है। पश्चिम से हम कुछ क्षेत्रों में, पाँच–सात दिशाओं में, आगे निकल जाएँ। जैसे सोलर एनर्जी में मान लीजिए, उनसे आगे निकल जाइये, तो उनसे बातचीत हो जायेगी। लेकिन जब तक यह नहीं होगा, तब तक हम उनसे भीख ही मांगते रहेंगे। वो कम्प्यूटर में छठी जेनरेशन का कुछ कर रहे हैं, हम चौथी जेनरेशन का इस्तेमाल कर रहे हैं। फिर हम उनकी खुशामद कर रहे हैं कि पाँचवी जेनरेशन का हमें कुछ दे दीजिये। इससे तो कुछ नहीं होगा।

अमेरिका के राष्ट्रपति क्लिंटन आयेंगे, कुछ और विदेशी नेता आयेंगे, लोग तो आते ही रहते हैं वे कुछ हमारी बड़ाई करेंगे, पाकिस्तान की कुछ बुराई करेंगे, या चीन को कुछ

कहेंगे, तो हम यह मान लेंगे कि इनकी राय तो अब बदल गई है; ये हमारे मित्र बन गये हैं। ये तो सब फालतू की बातें हैं। ये तो दुनिया में होता ही रहता है। हम भी ऐसा ही करते होंगे। इसमें कुछ रखा नहीं है, यह तो बहकना है।

१९४२ के करीब का रुजवेल्ट का एक वक्तव्य है। हुआ यूँ कि चांगकाई शेक, जो उस जमाने में चीन के राष्ट्रपति थे, १९४२ के आरम्भ में भारत आये थे। वह चाहते थे कि अंग्रेजों के और हमारे बीच कोई समझौता हो जाये। लेकिन अंग्रेज उनका यहाँ आना पसंद नहीं करते थे। पर ये चीन के राष्ट्रपति हैं और चीन भी लड़ाई में पड़ा है, इसलिये उन्हें रोकना मुश्किल था। रुजवेल्ट भी उनके आने के पक्ष में थे, इसलिये वह आये। चांगकाई शेक महात्मा गांधी से मिलना चाहते थे और वह भी सेवाग्राम में। पर अंग्रेजों को लगा कि नहीं–नहीं गांधीजी से मिलने चीन के राष्ट्राध्यक्ष यदि सेवाग्राम जाएंगे, तो यह तो गलत हो जायेगा, गांधीजी को बड़प्पन मिल जायेगा। काफी सोच विचार के बाद अंग्रेजों ने तय किया कि रविन्द्रनाथ टैगोर के यहाँ उनकी गांधीजी से मुलाकात हो सकती है। खैर, यह तो दूसरा किस्सा है। परन्तु इस बात को लेकर अंग्रेज रुजवेल्ट से नाराज हुए। उन्होंने कहलवाया कि आप हमारे काम में दखल क्यों दे रहे हैं? इसके कुछ समय बाद अगस्त १९४२ में ब्रिटिश अम्बेसिडर से रुजवेल्ट की लम्बी बात हो रही है, उसका एक हिस्सा भारत के बारे में है, यह छपा है। ये जो ट्रान्सफर ऑफ पॉवर के दस्तावेज हैं, १२ वाल्यूम, कुल दस हजार पन्ने के, उनमें छपा है। वैसा ही हमारे आई.सी.एच.आर. वाले भी कर रहे थे, पर उनसे अभी तक कुछ विशेष हुआ नहीं। तो इस बातचीत में रुजवेल्ट यह कह रहे हैं कि आप (अंग्रेज) हिंदुस्तान में चाहे जो करें पर कुछ ऐसा हो कि अन्ततः भारत पश्चिम के घेरे में ही बना रहे। ये हैं उनके शब्द – कि भारत पश्चिम के घेरे में, छत्रछाया में ही बना रहे। फिर उनका जो सेक्रेटरी ऑफ स्टेट था उसने कहा कि चीन के विदेश मंत्री तो यह कहते हैं कि हिंदुस्तानी तो एशियाटिक हैं। उस पर रुजवेल्ट का कहना है कि नहीं–नहीं, ये तो एशियाटिक नहीं हैं, ये तो हमारे कजिन हैं। ये तो इंडो–आर्यन स्टॉक के हैं।

आशय यह है कि कहीं हिंदुस्तानी चीनियों से नहीं मिल जाएँ। क्योंकि भय है कि कहीं यह २०–३० साल में या और बाद में अपनी अलग दुनिया न बसा लें। यही भय अभी भी है। इसीलिये इन्हें अपने पीछे लगाये रखो। तो इस तरह का उनका ध्येय रहा है, उनकी मानसिकता रही है, स्वार्थ रहा है, स्वप्न भी ऐसा ही होगा। उन्हें ईसा मसीह ने बतलाया होगा, किसी पैगम्बर ने बतलाया होगा कि कभी ऐसा होने वाला है कि हमेशा





के लिये इस पृथ्वी पर आपका ही बस चलेगा, आप ही की दुनिया पूरे संसार में चलेगी। लेकिन इसी तरह और लोगों के भी स्वप्न होते हैं, स्वभाव होता है कि हम अपनी दुनिया में रहें। यह सभी का होता है। होना तो यह चाहिए कि संसार में चार–पाँच दुनियाएँ बन जाएं – योरोप की, अमरीका की, अफ्रीका की। हम भी अपनी एक दुनिया बना लें। हमारे यहाँ उपजाऊपन भी है, कला भी है, दिमाग भी है, हमारा गणित भी ऊँचा है, हमारा अपना एक सिस्टम है। ऊँचा है या नीचा है, उसको छोड़िये। मुख्य बात है कि ये एशिया वाले अपनी दुनिया बना सकते हैं। इसी प्रकार अफ्रीका वाले भी बना सकते हैं। अब यूरोप वाले राक्षस हैं, अमरीका वाले राक्षस हैं, हमारी ये मान्यताएं हो सकती हैं। परन्तु राक्षसों को भी रहने का अधिकार तो होता ही है। सभी राक्षस तो नहीं मार दिये जाते। लेकिन इतना रहे कि राक्षसों से थोड़ा दूर रहो, उतना पास नहीं जाओ। 'ग्लोबल विलेज' नहीं बनाओ। ये 'ग्लोबल विलेज' तो एक बला है।

'ग्लोबल ट्रेड' फालतू की बात है। अभी मैंने सुना कि खादी का एक्सपोर्ट हो रहा है। तमाम हाथ की बनी चीजों का हम एक्सपोर्ट करते हैं। तो हम बाहर चीजें भेजते हैं वहाँ उनकी कीमत कुछ भी हो सकती है, दस गुनी भी हो सकती है, बीस गुनी भी हो सकती है। अपने हाथ का बना सामान हम क्यों भेजते हैं? और क्यों भेंजे? काहे के लिये? हमारे यहाँ खपत नहीं है क्या? हमारे यहाँ बहुत जरूरत है। हम अपना दूसरा अर्थशास्त्र बनायें, अपना तरीका बनायें। ये जो चीजें हम बाहर भेजते हैं, उसके बदले हमें कुछ नहीं मिलता। या तो हम यह तय कर लें कि जो भी चीज बाहर जायेगी, वह लगभग दस गुने दाम पर जायेगी। उससे कम पर नहीं जायेगी। वे जैसे अपने सामान का दाम लेते हैं – बंदूकों, हवाई जहाजों आदि का दाम अपने हिसाब से तय करते हैं, तो हम भी अपने सामान का दाम अपने हिसाब से तय करेंगे। हमारी भी कला है, ऐसे ही नहीं है। वैसे तो हमें पश्चिम को कुछ देना ही नहीं है।

इसके अलावा ये जो एक्सचेंज रेट है, जो पिछले दो सौ–ढाई सौ साल में फिक्स हुए, वह तो सब गलत हैं। मेरी बेटी जर्मनी में है, स्कॉलर है, उसके हिसाब से तो एक डॉलर एक रुपये के बराबर ही बैठता है। ऐसा वह बार–बार कहती है, उसको ऐसा ही लगता है, और पिछले तीस बरस से वह इस बात को समझती है। यह बात क्यों हमारी समझ में नहीं आती? ये इतने ऊँचे–ऊँचे लोग बैठे हैं, दुनिया भर घूमते हैं, लिखते हैं, इन्हें क्यों नहीं समझ में आता है? या कि इनमें हिम्मत नहीं है? या कोई और लोग चाहिए कहने वाले? अब कहने वाले तो आप लोगों में से ही निकलेंगे। आप लोगों से मेरा मतलब

है – आप जैसे लोग। ये लोग २०–५० लाख तो होंगे ही। ये लोग कहें। क्योंकि ये जो सब कुछ एकतरफा हो गया है, प्रजा और सरकार का जो ये संबंध है कि सरकार को कहना है और प्रजा को तो बस सुनते रहना है या प्रजा को तो बस पिटते ही रहना है, सरकार जो मर्जी आए करती रहे, यह तो नहीं चल सकता। इसको तो उलट देने की आवश्यकता है।

यूरोपीय विचार हो सकता है कि प्रजा इसीलिये होती है, और ऐसा विचार योरोप में है भी। योरोप की प्रजा सबआर्डिनेटेड है। बँध करके चलती है। आज के माडर्निज्म में भी बंध करके चलती है। अमरीका में भी, हम जिसे स्वराज कहते हैं, वह नहीं है। अपने हिसाब से आदमी कुछ कर ले, जैसे कि आज तो काम नहीं करना है, भाई, जरा सो लो। वहाँ यह नहीं हो सकता। योरोप के जनसाधारण के लिये आजादी या फ्रीडम की जो बात कही जाती है या योरोप की समृद्धि आदि की जो बात है, वह हो सकता है जहाँ–तहाँ हजार पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व रही होगी परन्तु आज जो समृद्धि है, वह तो ५० वर्ष पहले ही बनना शुरू हुई है उसके पहले की तो नहीं है। ये समृद्धि तो ऐसी है कि अगर आपको एक महीने काम न मिले और यदि राज्य आपको सोशल सिक्यूरिटी वगैरह नहीं दे, तो आपका जिंदा रहना मुश्किल हो जायेगा। क्योंकि आपके पास किराये आदि का पैसा नहीं होगा। ये सब अपने यहाँ भारत में भी, मिडिल क्लास में, होने लगा है। क्योंकि यदि आप ३–४ हजार किराया देते हैं और दस हजार रुपये का वेतन बंद हो जाता है तो जिंदा रहना संभव नहीं होगा।

मैंने जो लिखा है उसमें कॉन्स्टेन्टाइन की बात कही है कि जब ३२० ई. में वह ईसाई बना तो यह कह दिया गया कि सारे योरोप की प्रजा भी ईसाई बन गई। जबकि योरोप के विद्वान कहते हैं कि योरोप को पूरा ईसाई बनने में तो १२०० वर्ष लगे। तो वहाँ इस तरह का होता है। बाद में, १५५० ई. में प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक लोगों में जो लड़ाई हुई, उसके बाद आक्सबर्ग की ट्रीटी (शान्तिनामा) हुई उसमें लिखा है कि जो राजा का सम्प्रदाय है, वही सम्प्रदाय प्रजा का भी होगा। जिसको (प्रजा को) यह पंसद नहीं हो, वह राज्य छोड़कर चला जाए। तो उनकी मान्यताएँ इस तरह की हैं। इसलिये यदि हम अपनी मान्यताओं के अनुसार अपना संसार नहीं बनायेंगे, तो मुझे नहीं लगता कि हम कुछ कर पायेंगे।

अंग्रेजों के विचारों एवं कार्यों ने हमारे समाज को तोड़ा, उसे रूढ़िग्रस्त बनाया, और हमारे कुछ लोगों को (उनकी संख्या आज शायद ५–१० लाख होगी), ''बिना समझ का





अंग्रेज'' बना दिया। और अंत में उन्होंने ऐसे ही ''अंग्रेजों'' को भारत का राज्य सौंप दिया। ऐसा होने में सभी बड़े अंग्रेजों का हाथ रहा। वे एक तरह से सभी विलियम विलबरफोर्स (जिन्होंने १८१३ ई. में ब्रिटेन के हाऊस ऑफ कामन्स से यह तय करवाया कि भारत में ईसाइयत फैलाना अंग्रेजी राज्य का मुख्य कार्य है) व जेम्स मिल और मैकाले, जिनके विचार से भारत की सभ्यता सबसे गिरी हुई थी, के बौद्धिक वंशज थे। इंग्लैण्ड की लेबर पार्टी के प्रधानमंत्री क्लीमेन्ट ऐटली उन्हीं में से थे, और अमरीका के राष्ट्रपति फ्रैंकलिन रुजवेल्ट भी। रुजवेल्ट के अनुसार तो यह आवश्यक था कि भारत पश्चिम के संरक्षण एवं घेरे से बाहर नहीं निकल पाये। अपने जवाहरलाल नेहरू भी बहुत हद तक इन्हीं लोगों की मानसिकता के थे। आज तो इस तरह की मानसिकता भारत में बहुत बढ़ी है। लेकिन यह शायद निजी विश्वासों के स्तर पर आज पहले से कमजोर है।

अब हम कैसे भारतीयता को प्राण दें, और उसका साहस एवं उत्साह वापस लायें, ये प्रश्न हम सभी के लिये विचारणीय है। मेरी सोच में गांधीजी ने भारत की ऐसी स्थिति को अन्य सभी भारतीयों से अधिक समझा। उनकी इस तरह की समझ शायद उनके बचपन से ही बढ़ने लगी थी। १८९१ ई. में जब वे २२ वर्ष के थे, उन्होंने लन्दन में प्रकाशित एक लेख में लिखा कि भारतीयों में इतनी गरीबी है कि वह कर लगाये गये नमक को भी नहीं खरीद पाते। उसी लेख में उन्होंने उस समय भारत में गौ–हत्या के विरोध में चल रहे आंदोलन की भी चर्चा की। दो वर्ष बाद दक्षिण अफ्रीका जाते ही गांधी जी वहाँ के ५०–६० हजार गरीब भारतीयों के प्रश्नों से जुड़ गये, और अगले १०–१५ वर्ष में, उनमें से गरीब से गरीब परिवार व व्यक्ति को अपने सत्याग्रह आंदोलन में ले आये। सन् १९१५ में भारत आते ही गांधीजी ने भारत भ्रमण किया, साबरमती आश्रम बनाया (जो एक तरह का देश के कार्यकर्ताओं के लिये सैनिक कॉलेज जैसा था, लेकिन जिसके मुख्य हथियार भारत के यम–नियम थे, बन्दूकें इत्यादि नहीं) और १९१७ से वे अंग्रेजों के तंत्र के विरुद्ध आंदोलनों में लग गए। तब से अंत तक यही उनका जीवन रहा।

लेकिन लगता है कि समय बीतते–बीतते गांधी जी अपनी शक्ति को कुछ अधिक आंकने लगे। हालाँकि उन्हें पश्चिम की शक्ति, कौशल और कूटनीति का अच्छा अंदाजा था, उन्हें अपने देश के पश्चिमीकृत हुये लोगों में आयी गहरी मानसिक गिरावट की समझ शायद ठीक से नहीं थी। फिर भी, इनमें से बहुत से गांधी जी के सैनिक बने और जैसा उन्होंने कहा उसे अधिकांशतः माना। लेकिन वैचारिक व बौद्धिक स्तर पर पश्चिम की जो छाप इन लोगों पर थी, वह मिट नहीं पायी। १९१९ ई. में वायसराय चैम्सफोर्ड ने लन्दन

में सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया को लिखा था कि अब ऐसा समय आया है जब हम केवल जमींदारों, ताल्लुकेदारों के बल पर राज्य नहीं कर पायेंगे, हमें अब शिक्षित और बौद्धिक लोगों को अपने साथ लाना पड़ेगा। इस तरह की बातें समय–समय पर पहले भी ब्रिटिश राज्य के अधिकारियों में हुई होंगी। यह विचार शीघ्र ही लागू किया जाने लगा और केवल काँग्रेस में ही नहीं, अन्य दलों व समूहों में भी ऐसे लोगों को आगे आने के लिये बढ़ावा दिया गया।

जैसे–जैसे स्वतंत्रता करीब दिखने लगी, वैसे–वैसे ये पश्चिमीकृत लोग धीरे–धीरे गांधीजी से हटकर पश्चिमी दृष्टिकोण, योजनाओं और व्यक्तियों के करीब पहुँचने लगे। यह कोई साजिश नहीं थी, जिस तरह का समाज व व्यवस्थायें भारत में थीं, और बढ़ रही थीं, उस स्थिति में ऐसा होना सहज ही था। हमारे पश्चिमीकृत लोगों ने हथियार डाल दिये और जो–जो अंग्रेज चाहते थे वो–वो उन्होंने धीरे–धीरे स्वीकार कर लिया। इसी काम को कराने के लिये इंग्लैण्ड ने लार्ड माउन्टबेटन को भारत का वायसराय चुना था। माउन्टबेटन बहुत कुछ रॉबर्ट क्लाइव (१७४८–१७७३) जैसे ही थे। उन्हें भारतीयों के ढीलेपन का अंदाजा था और दोनों का काम यह रहा कि भारतीयों को ऐसा दौड़ाएँ कि वे घबरा कर और थक कर बैठ जाएँ। माउन्टबेटन की व्यूह रचना ही कुछ इस तरह की थी कि भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन कुछ धीमा पड़े, भारत में कुछ अराजकता बढ़े और भारत अंग्रेजों से राय व मदद माँगने के लिये लाचार बने। मेरे विचार से यह सब हुआ। दिसम्बर १९४६ के अंतिम दिन माउन्टबेटन ने ब्रिटेन के राजा जॉर्ज षष्ठ को ३ पन्ने का एक लंबा पत्र लिखा; उसमें उन्होंने इस व्यूह रचना का कुछ अंदाजा दिया है।

अगर हमारे इन पश्चिमीकृत लोगों में योरोपीय लोगों जैसी मानसिकता, दुस्साहसीपन और अपने लोगों पर पूरी तरह का नियंत्रण रखना आता, तो शायद यह संभव हो जाता कि हम जापान की तरह व आज के चीन की तरह योरोपियन रास्ते पर चल पड़ते। लेकिन ऐसा लगता है कि हममें योरोप की आज की समृद्धि एवं तंत्र के लिये आकर्षण तो बहुत है, परन्तु हमारे पश्चिमीकृत लोग अभी तक यह समझ नहीं पाये हैं कि योरोप ने अपने को आज जैसा किस तरह से बनाया और उसके लिये कौन–कौन से सैकड़ों हजारों कदम उठाये। इसलिये मुझे लगता है कि योरोप के रास्ते को किसी भी अंश में ग्रहण करना हमारे लिये असंभव ही है।

मित्रो! मैं कुछ अधिक ही कह गया। लेकिन मुझे नहीं मालूम कि हम आज की इस कठिन स्थिति से कैसे निकलेंगे। इसके शायद बहुत से रास्ते होंगे, कुछ एक दूसरे से उल्टे



भी। लेकिन इन सब पर भारत के सभी वासियों, विशेषकर साधारण किसानों, कारीगरों, मजदूरों को गहरे ढंग से सोचना है और सोचकर कमर कसनी है। तब कोई कारण नहीं कि हम एक पीढ़ी के समय में इस दलदल से पूरी तरह से उबर न जायें।

◆◆◆

## क्या था अठारहवीं सदी के भारत का नक्शा?

यह दलित समाज तो अंग्रेजों का किया वर्गीकरण है। हमारे यहां तो अलग–अलग जातियां थीं और उनके अलग–अलग रीति–रिवाज थे। दलित वर्ग कहां से निकला, इस बारे में अंबेडकर लिखते हैं कि मुसलमानों का एक प्रतिनिधिमंडल अंग्रेजों से मिला था। उसने कहा कि हिंदू अछूत, दलित और सवर्ण–तीन खाने में हैं। इसलिये मुसलमान को आबादी के गणित में हिंदुओं के बराबर ही माना जाना चाहिए। १९११ की जनगणना में अंग्रेजों ने इस वर्गीकरण को ठूंस दिया। १९१६–१७ में शिक्षा पर हुए किसी सम्मेलन में सामाजिक–शैक्षणिक पिछड़ेपन की चर्चा उठी। तो बाद की जनगणना में अछूतों और कुछ दलितों को मिलाकर अनुसूचित जाति का एक वर्ग बना दिया गया। जबकि १८ वीं सदी के भारत में ५–७ से ज्यादा जातियाँ अछूत नहीं थीं। चमार तो अछूत नहीं ही थे। १९३१ की जनगणना में उनकी आबादी ब्राह्मणों के बराबर है। और जातिवार यही दोनों सबसे बड़े आबादी समूह हैं। कुछ चांडाल, भंगी, मेहतर ही अछूत थे। फिर १८०० तक जातियों में परस्पर पिछड़ापन कोई ज्यादा नहीं था। शादी–ब्याह के दायरे सबके अपने–अपने थे। पर समाज में सबकी स्थिति तकरीबन बराबर की थी और व्यवस्था में हरेक की हिस्सेदारी थी। दक्षिण भारत में तो गांव के झगड़े तय करने का काम पेरियार का ही था। उसके न्याय को चुनौती नहीं दी जा सकती थी। गांव की सुरक्षा का जिम्मा महारों का था। १८ वीं सदी में इनके घरों का घेरा देखिए तो वह किसी और हिंदू के घर से कम नहीं है। बल्कि कहीं–कहीं ज्यादा भी है। खेती भी है उनके पास। इसे कहिए तो लोगों को बड़ा झटका लगता है। मैंने जाँचा कि दक्षिण में १८ वीं सदी में कुल शिक्षितों में ८० फीसदी गैर ब्राह्मण हैं।

— धर्मपाल

# राष्ट्रीय आंदोलन के वैचारिक आधार
## १९३२–४० में महात्मा गांधी की सक्रियता

महात्मा गांधी के जीवन में १९३३ से एक नये अध्याय का आरम्भ हुआ, जिसके निहितार्थों और परिणामों को शायद अभी भी पूरी तरह समझना और पहचाना जाना बाकी है। १९१९ से १९३१ तक के समय को भारतीयों को संगठित करने के दौर के रूप में देखा जा सकता है, जिसमें उन्होंने न केवल भारतीयों को, बल्कि अंग्रेजों को और समस्त संसार को, यह साफ जता दिया कि ब्रिटिश राज के खिलाफ उनके नेतृत्व और मार्गदर्शन में जो संघर्ष छिड़ा है, वह सीधे तौर पर राजनैतिक स्वाधीनता की ओर बढ़ रहा है। १९३३ से शुरू होकर पूरे ओज के साथ १९४० तक चले दौर को, निकट भविष्य में ही संभावित राजनैतिक आजादी के लिए, महात्मा गांधी द्वारा इस आने वाली आजादी की बैठक – अंतर्वस्तु और ढाँचे का स्वरूप (मूलत: १९०८ में 'हिंद स्वराज' में परिकल्पित आधारों पर ही) – प्रस्तुत करने के प्रयास के तौर पर देखा जा सकता है। लेकिन अनेक संश्लिष्ट कारणों से इस प्रयास की भ्रूण हत्या हो गयी, इसलिए यह और भी जरूरी है कि महात्मा गांधी के इस प्रयास को (खोज और अध्ययन के साथ–साथ चिंतन–मनन के द्वारा) ज्यादा जाना और समझा जाए।

१९१५ में अहमदाबाद के पास साबरमती नदी के तट पर स्थापित साबरमती आश्रम को अगस्त १९३३ में गांधीजी ने औपचारिक रूप से त्याग दिया और उसकी जगह एवं संपत्ति को नये बने 'हरिजन सेवक संघ' को दान कर दिया। इसके कुछ ही हफ्तों बाद, ६४ बरस की उम्र में, उन्होंने भारत की अपनी महीनों लंबी तूफानी हरिजन यात्रा शुरू की,

*(यह लेख १४ फरवरी, १९८२ को लंदन में अंग्रेजी में लिखा गया था)*





जिसमें वह देश के लोगों को यह समझाते रहे कि भारत के दलित अवनत समूहों के साथ बराबरी का व्यवहार होना और उनके सभी नागरिक अधिकार, जिनमें हिन्दू मंदिरों में प्रवेश का अधिकार भी शामिल था, उन्हें वापस मिलने चाहिये। अपनी यात्रा के अंत में, १९३४ के मध्य, गांधीजी ने वर्धा को (एक साल बाद ६ मील दूर हटकर सेवाग्राम को) अपना नया और अंतिम केंद्र बनाया। लगभग उसी समय गांधीजी ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की सदस्यता को औपचारिक रूप से त्यागने का महत्त्वपूर्ण फैसला लिया, जिसके वे १९२० से सर्वोच्च नेता और पथ–प्रदर्शक रहे थे। उनके इस इस्तीफे की मंजूरी के पूर्व गांधीजी ने यह आश्वासन दिया था कि इस्तीफे के बाद भी उनका परामर्श और मार्गदर्शन कांग्रेस को सुलभ रहेगा। इसके अलावा, गांधीजी की सलाह पर कांग्रेस ने अपने को भारत की अधिक सच्ची प्रतिनिधि संस्था बनाने हेतु यह नियम निर्धारित किया कि अब से उसकी राष्ट्रीय समिति के तीन चौथाई सदस्य ग्रामीण भारत से होंगे और सिर्फ एक चौथाई सदस्य ही शहरी इलाकों के होंगे। और इस प्रकार उस समय यह एक महत्त्वपूर्ण फैसला लिया गया। इसके अलावा, क्योंकि गांवों के पुनर्संगठन और पुनर्उत्थान के लिए यह आवश्यक ही है कि मृत या मरणोन्मुख ग्रामीण उद्योगों को निश्चित और अनिवार्य तौर पर पुनर्जीवित और प्रोत्साहित किया जाये, इसलिए कांग्रेस ने यह प्रस्ताव किया कि गांधीजी की सलाह और मार्गदर्शन में एक 'अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ' स्थापित किया जाना चाहिए। प्रसंगवश, इस ग्रामोद्योग संघ के गठन के कुछ ही हफ्तों के अंदर भारत में ब्रितानी सरकार ने और स्वयं वाइसराय ने भी निजी तौर पर, इस संघ को अत्यन्त खतरनाक और राजद्रोहात्मक निरूपित किया।

एक अर्थ में तो, यह नया दौर १९३२ से ही शुरू हो गया था जब 'दलित वर्गों' के नाम से अंग्रेजों द्वारा परिभाषित किये समूहों को शेष हिंदुओं से अलग करने की उनके (अंग्रेजों) द्वारा रची गयी रणनीति के खिलाफ गांधीजी ने अपना 'साहसपूर्ण' उपवास शुरू करने का फैसला किया। उपवास की घोषणा ने जहाँ कइयों को, विशेषकर भारतीय राष्ट्रवादियों में प्रगतिशील और बुद्धिजीवी वर्ग को, परेशान कर दिया, वहीं शेष भारत को इतना अधिक आन्दोलित कर दिया जितना कि लोक स्मृति में इससे पहले कभी नहीं हुआ था। उपवास शुरू करने के कुछ ही दिनों के अंदर – 'दलित वर्गों' और शेष हिंदुओं के प्रतिनिधियों के बीच मामला सुलझ गया, जिसे अंग्रेजों को भी स्वीकार करना पड़ा और इस प्रकार गांधीजी का उपवास सफलतापूर्वक समाप्त हुआ। इस अवसर पर २५ सितम्बर, १९३२ को बम्बई में हिंदुओं की एक ऐतिहासिक सभा हुई जिसमें पारित प्रस्ताव में कहा

गया कि 'आज से हिंदुओं में किसी को भी जन्म के आधार पर अछूत नहीं माना जायेगा और अब तक जिन्हें ऐसा माना जाता रहा है, उन्हें सार्वजनिक कुँओं, सार्वजनिक विद्यालयों, सार्वजनिक सड़कों और अन्य सार्वजनिक संस्थाओं के उपयोग के मामले में वे ही अधिकार प्राप्त होंगे जो अन्य हिंदुओं को होते हैं।' और यह भी कि 'यह समस्त हिन्दू नेताओं का कर्त्तव्य होगा कि वे हर एक वैध एवं शांतिपूर्ण तरीके से उन तमाम सामाजिक अशक्तताओं को, जिनमें मंदिरों में प्रवेश पर रोक भी शामिल है, शीघ्र समाप्त करायें, जो कि तथाकथित अछूत वर्गों पर रूढ़ियों द्वारा लाद दी गयी है'।

गांधीजी के उपवास के कुछ ही महीनों बाद, (हिंदुओं की) सनातन धर्म महासभा की बनारस बैठक में, जिसमें रूढ़िवादी विद्वान पंडित शामिल थे, यह महत्त्वपूर्ण अभिमत व्यक्त किया गया कि 'क्योंकि दलित वर्ग सनातन धर्म के ही अनुयायी हैं, अतः इस धर्म के अन्य अनुयायियों का यह कर्त्तव्य है कि वे धर्म पालन के समस्त लाभ प्राप्त करने में इनकी मदद करें।' इस प्रकार गांधीजी के उपवास एवं उनके द्वारा उठाये गये अन्य कदमों के परिणाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और असरदार थे और आज भी हैं, इसके बावजूद कि दलित वर्गों और अन्य हिन्दुओं के बीच झड़पें होती रहती हैं और बैर–भाव अभी भी बरकरार है। यह अचरज की बात नहीं कि भारत के लिए ब्रिटिश राज्य के सचिव लियोपोल्ड एमरी ने जब दिसम्बर १९४२ में यह लिखा कि ब्रिटिश राज्य के लिए 'एक और अल्पसंख्यक समूह' के रूप में 'दलित वर्ग' राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त लाभप्रद हो सकता है और उसके जरिये महात्मा गांधी और कांग्रेस को मात दी जा सकती है, तब उनके खुद के ही दफ्तर का विचार इससे भिन्न था। दफ्तर का मानना था कि 'मुसलमानों की तुलना में वह (दलित वर्ग) कमजोर पत्ते हैं।' संभवतः यह स्थिति गांधीजी द्वारा अस्पृश्यों के लिए किये गये प्रयासों के कारण ही बन पायी।

अक्टूबर १९३४ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से औपचारिक रूप में इस्तीफा देने के शायद दो–तीन साल पहले से ही गांधीजी इस बात से आश्वस्त हो गये लगते हैं कि अब ब्रिटेन से भारत की राजनैतिक आजादी लगभग सुनिश्चित है और अब यह संघर्ष पीढ़ियों की नहीं सिर्फ कुछ सालों की बात रह गयी है। इस तरह आश्वस्त होने के बाद गांधीजी इस आने वाली राजनैतिक आजादी की अंतर्वस्तु और संरचना को लेकर ज्यादा सोचने और ध्यान देने लगे। साथ ही, वह इस बात के प्रति भी सचेत थे कि 'सर्वाधिक बौद्धिक कांग्रेस जनों का बड़ा हिस्सा, यदि मेरे प्रति उन की अनुपम निष्ठा आड़े न आये, तो सहजता और उत्साह से जो रास्ता अपनायेगा, मैं संभवतः उससे बिल्कुल उल्टी दिशा





में जा रहा लगता हूँ'। इसलिए उन्होंने यह निश्चय किया कि 'उनकी निष्ठा और समर्पण भाव के चलते उन पर अनावश्यक दबाव डालना अनुचित होगा।' उन्होंने आगे यह भी कहा कि 'कांग्रेस के प्रबुद्ध वर्ग का एक बहुत बड़ा हिस्सा मेरे तरीकों और मेरे विचारों से उकता गया है'। उन्हें लगता है कि 'कांग्रेस के अभिवर्धन में मैं एक सहायक नहीं बल्कि एक अवरोध हूँ' और उसमें मेरे बने रहने से, उनकी दृष्टि में 'तर्क–बुद्धि का मुक्त प्रयोग नहीं हो पाता।' गांधीजी के अनुसार, सबसे ज्यादा, बुद्धिजीवी लोगों का उनसे कई बातों को लेकर मतभेद था जिसमें से हाथ से कताई (जो कि गांधीजी की दृष्टि में ''खेती की सेविका'' और ''देश का दूसरा फेफड़ा'' थी), अस्पृश्यता की समाप्ति (जिसके लिए गांधीजी द्वारा अनेक प्रयास किये गये), सविनय अवज्ञा के अवसरों और तरीकों, अहिंसा, वस्तुतः स्वयं लोकतंत्र की अंतर्वस्तु को लेकर, महत्वपूर्ण मतभेद थे। क्योंकि गांधीजी के अनुसार "भ्रष्टाचार और दोगलापन लोकतंत्र की अपरिहार्य उपज नहीं हो सकती, जैसे कि वे आज हो गयी हैं"। इसके विपरीत गांधीजी इस कोशिश में थे कि भारत वास्तविक एवं सच्चे लोकतंत्र की मिसाल प्रस्तुत कर पायेगा।

महात्मा गांधी के अनुसार स्वराज (स्वाधीनता, स्वतंत्रता) कोई सीधी सपाट चीजें नहीं हैं। जनवरी १९३३ में उन्होंने एक संवाददाता से पूछा– 'आप ऐसा क्यों मानते हैं कि स्वराज अस्पृश्यता की समाप्ति से अलग कोई वस्तु है?' गांधीजी के लिए तो स्वराज एक वट–वृक्ष जैसा था "मेरे ख्याल से निर्णय वापिस लेने के लिए जितनी जल्दी करनी पड़ी, उससे ज्यादा जल्दी अस्पृश्यता को नष्ट करने में करनी चाहिये। ............. स्वराज्य कोई सीधी छड़ नहीं है, वह तो वट वृक्ष की तरह है। इसकी बहुत–सी शाखाएँ हैं और एक–एक शाखा मुख्य तने से निकलकर (बढ़ने में) स्पर्धा करने वाली है। किसी भी शाखा को पोषण दें, सारे वृक्ष को पोषण मिलना निश्चित है। कोई तय नहीं कर सकता कि किसे कब पोषण देना है। यह काम समय करता रहता है।" संपूर्ण गांधी वाङ्मय, खण्ड ५२, पृष्ठ ४१४–१५ (गांधीजी का पत्र परमानन्द के. कापड़िया को ८ जनवरी, १९३३)

स्वराज्य और लोकतंत्र की ऐसी अवधारणाओं के कारण ही गांधीजी कांग्रेस से औपचारिक तौर से अलग हो गये। ऐसा लगता है कि १९३४ से लेकर अपनी आखिरी सांस तक, विशेषतः १९३४ से १९४० के बरसों में, जब उन्होंने ब्रिटिश राज्य के खिलाफ किसी भी सविनय अवज्ञा आंदोलन के सीधे नेतृत्व की जरूरत नहीं समझी, उनके जीवन का एक–एक पल स्वराज्य और लोकतंत्र की उन अवधारणाओं के लिए अंतर्वस्तु और संरचनात्मक स्वरूप प्रस्तुत करने के लिए समर्पित रहा। जुलाई १९४६ में उन्होंने स्वराज

और लोकतंत्र को एक महासागरीय वृत्त के रूप में निरूपित किया, 'जिसका केंद्र व्यक्ति होगा, जो गांव के लिए सर्वस्व अर्पण करने के लिए तैयार रहेगा, गांव हमेशा ग्राम समूहों के लिए सर्वस्व उत्सर्ग करने को तत्पर रहेगा, जब तक कि सम्पूर्ण समूह ऐसे व्यक्तियों से रचित एक प्राण सत्ता नहीं बन जाता, जो कभी भी आक्रामक नहीं होंगे, वरन सदैव विनम्र रहते हुए उस महासागरीय वृत्त के ऐश्वर्य में सहभागी होंगे, जिसके कि वे अभिन्न अंग हैं। असंख्य गांवों (और स्वभावत: कस्बों तथा शहरों) द्वारा संरचित इस ढांचे में सदा फैलने वाले किंतु कभी भी मर्यादा न लांघने वाले वृत्त होंगे, जिसका बाहरी घेरा कभी भी भींतरी वृत्तों को कुचलने और उन पर शासन करने का काम नहीं करेगा, वरन सभी भीतरी वृत्तों को शक्ति देगा और उनसे ही अपनी शक्ति प्राप्त करेगा।'

अस्पृश्यता के विरुद्ध उपवास में, ऐसा लगता है कि गांधीजी को एक नयी अंतर्दृष्टि मिली। क्योंकि, जैसा कि उन्होंने १९३४ में कहा, 'अस्पृश्यता के खिलाफ अभियान अब सिर्फ अछूत नाम से चिह्नित लोगों की अस्पृश्यता उन्मूलन नहीं रह गया है, उसमें और भी बहुत कुछ समाविष्ट होने लगा है। शहर में रहने वालों के लिए अब गांव अछूत बन गये हैं।' और इस व्यापक अस्पृश्यता को खत्म करने के लिये ग्रामीण उद्योगों का नवजीवन अधिक जरूरी हो गया।

नवजागरण का यह काम कितना कठिन और जटिल था, यह गांधीजी ने नवम्बर १९३४ में नये तौर पर विस्तार किये गये, 'गांधी सेवा संघ' के एक सम्मेलन में व्यक्त किया। उन्होंने कहा– 'लेकिन गांव वालों को उनकी पुरानी स्वाभाविक स्थिति में पुनर्प्रतिष्ठित करना कोई आसान काम नहीं है। मैंने सोचा था कि मैं एक विधान बनाकर थोड़े समय में ही संघ को गतिशील कर देने में समर्थ हो जाऊँगा। लेकिन जितना ही मैं उसमें गहरे पैठता हूँ, उतना ही मुझे मुश्किलें और दिखाई देती है। एक अर्थ में यह काम खादी से ज्यादा कठिन है, क्योंकि खादी का काम बहुत जटिल समस्यायें सामने नहीं लाता। हम बस सभी विदेशी और मशीनी कपड़ों का बहिष्कार कर दें और खादी अपने आप एक मजबूत नींव पर स्थापित हो जायेगी। लेकिन यह तो इतना बड़ा क्षेत्र है, उद्योगों की अनेक किस्में हैं जिन्हें संगठित करना और चलाना है, कि इसमें हमारी सारी व्यावसायिक प्रतिभा, विशेषज्ञों का ज्ञान और वैज्ञानिक प्रशिक्षण इत्यादि सभी को खपना होगा। कठिन मेहनत, निरंतर प्रयत्न और अपनी समस्त व्यापारिक तथा वैज्ञानिक योग्यताओं को इस सर्वोच्च प्रयोजन के लिये लगाये बिना यह उपलब्ध होने वाला नहीं। अत: मैंने अपने यहाँ के अनेकों विख्यात डॉक्टरों और रसायनशास्त्रियों को एक प्रश्नावली भेजी है जिसमें मैंने उनसे जानना चाहा है कि





पॉलिश किये हुए और बिना पॉलिश किये हुए चावल, गुड़ और चीनी, इत्यादि ऐसी ही अन्य चीजों के रासायनिक विश्लेषण तथा उनकी पोषण क्षमताओं के बारे में मेरी जानकारी बढ़ायें। अनेक मित्रों ने फौरन जवाब भेजा, पर सिर्फ यह बताने के लिए कि इन दिशाओं में कोई अनुसंधान ही नहीं हुआ है। क्या यह अत्यन्त दु:खद स्थिति नहीं है कि कोई भी वैज्ञानिक गुड़ जैसी साधारण चीज के बारे में भी मुझे बता न पाये? कारण तो मुझे यही लगता है कि हमने ग्रामीण लोगों के बारे में सोचा ही नहीं है। शहद का मामला लें। मुझे पता चला है कि विदेशों में शहद का विश्लेषण इतनी सावधानीपूर्वक किया जाता है कि उसकी एक भी बोतल बिना निश्चित परीक्षण पर खरे उतरे, बाज़ार में बिक्री के लिये नहीं जा सकती। भारत में हमारे पास सर्वोत्तम शहद पैदा करने के लिए विशाल साधन–स्रोत हैं, पर इस मामले में हमारे पास पर्याप्त विशेषज्ञता युक्त ज्ञान नहीं है। एक प्रतिष्ठित डॉक्टर मित्र लिखते हैं कि उनके अस्पताल में पॉलिश किया हुआ चावल निषिद्ध है और चूहों तथा अन्य प्राणियों पर परीक्षण के बाद यह पुष्ट हो गया है कि पॉलिश किया चावल नुकसानदेह है। लेकिन फिर चिकित्सा व्यवसाय वाले लोगों ने मिलकर अपने इन नतीजों को प्रकाशित क्यों नहीं किया और यह क्यों नहीं कहा कि इस तरह के चावल का उपयोग नुकसानदेह है।

'इन एक–दो उदाहरणों से मैंने अपनी कठिनाई जाहिर की है। कैसा संगठन होना चाहिये? प्रयोगशालाओं में किस प्रकार के शोध हमें करवाने होंगे? हमें बड़ी संख्या में ऐसे वैज्ञानिक और रसायनशास्त्रियों की जरूरत पड़ेगी जो न केवल अपना विशिष्ट ज्ञान हमारे इस अभियान के लिए अर्पित करें, वरन जो प्रयोगशालाओं में घंटों बैठकर, बिना पैसे लिये, उन दिशाओं में प्रयोग करें, जैसा मैंने इंगित किया है। हम समय–समय पर इनके नतीजे तो प्रकाशित करेंगे ही, साथ ही हमें विभिन्न उत्पादनों की जाँच करना और उन्हें प्रमाणित भी करना होगा। हमें यह भी पता लगाना होगा कि जब कोई वस्तु या खाद्य सामग्री निर्यात होती है और उसकी जगह बाहर से सस्ते विकल्प आयात होते हैं, तो वस्तुओं को पैदा करने वाले ग्रामीण इस प्रक्रिया से संतुष्ट हैं अथवा नहीं। हमें यह सुनिश्चित करना होगा कि सर्वप्रथम ग्रामीण आत्मनिर्भर हों, उसके बाद ही वे शहर में रहने वालों की जरूरतों को पूरा करें।

'इस काम के लिए हमें जिलेवार संगठन बनाने होंगे और जहाँ जिले ज्यादा बड़े हैं, वहाँ जिलों को उप–जिलों में बाँटना होगा। इन लगभग २५० संगठनों में, हर एक में एक एजेंट होगा, जो मुख्यालय से प्राप्त निर्देशों के अनुसार सर्वे करेगा और उसकी रिपोर्ट पेश

करेगा। ये एजेण्ट पूर्णकालिक होंगे जिनकी इस कार्यक्रम के प्रति पूर्ण आस्था होगी और जो अपने दैनिक जीवन में जरूरी फेरबदल करने को तैयार रहेंगे। इस काम के लिए धन की निश्चित तौर पर आवश्यकता होगी, पर धन से भी ज्यादा इस काम के लिए गहरी आस्था और संकल्पपूर्ण सक्रियता वाले लोग चाहिए होंगे।'

अस्पृश्यता उन्मूलन, शहर और गांव के बीच की बढ़ती खाई को कम करने की कोशिश और ग्रामीण उद्योगों के पुनर्जीवन के प्रयासों ने, ब्रिटिश ढांचे से उपजी शिक्षा पद्धति की व्यर्थता, उससे भी ज्यादा उसकी विध्वंसक प्रकृति और सभी स्तरों पर अधिक उपयुक्त पद्धति को लागू करने की जरूरत का अहसास करा दिया। इसी से आगे चलकर वह पद्धति निकली, जिसे गांधीजी की बुनियादी शिक्षा कहा जाता है। उसी समय दूसरे कई सवालों की ओर भी ध्यान दिया गया, जिसमें ऐसे श्रम–संगठन का विचार भी शामिल है जिनमें कोई 'हड़ताल' और 'वर्ग युद्ध' की जरूरत ही न हो। उस समय के देश के एक प्रमुख अखबार ने इस बाद वाले विचार को महत्व देते हुए इस शीर्षक से इस खबर को छापा कि 'गांधी सेवा संघ नये श्रमिक संगठनों में श्रमिकों को प्रशिक्षण देगा।'

ऐसे विचारों में लोगों को दीक्षित करने, उन पर बहस करने एवं उन विचारों का प्रचार–प्रसार करने के लिए एक ऐसे मंच की जरूरत थी जहाँ समान सोच वाले लोग, जो विविध क्षेत्रों में खोज में संलग्न हों, इकट्ठे हो सकें। यह काम गांधी सेवा संघ ने किया, जो १९२३ में महात्मा गांधी द्वारा देश के सामने रखे गये कार्यक्रमों को बढ़ाने के लिए स्थापित किया गया था। जब गांधीजी ने वर्धा को अपना नया केंद्र बनाया, तब इसे पुनर्गठित कर सैकड़ों लोगों की सदस्यता द्वारा व्यापक बनाया गया था। तब गांधीजी ने कहा था – "गांधी सेवा संघ अपना एक नया संविधान बना रहा है। इसने कोई नया दायित्व न लेने का निश्चय किया है। यह ऐसे कार्यकर्त्ता भर्ती करेगा जिनके उद्‌देश्य तो समान होंगे, लेकिन किसी एक ही कोष पर इन्हें आश्रित रहने की आवश्यकता नहीं होगी।" (संपूर्ण गांधी वाङ्मय, खण्ड ५९, पृष्ठ ४५१; गांधीजी का पत्र एन.आर. मलकानी को ५ दिसम्बर, १९३४)। इन कार्यकर्त्ताओं में लेखक, शिक्षाविद्, वैज्ञानिक, प्रौद्योगिकीविद्, चिकित्साविद्, सामाजिक कार्यकर्त्ता, संन्यासी और विद्वान अध्येता शामिल थे तथा वे लोग भी जो विदेशी शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय थे।

इस प्रकार १९३४ से लेकर १९४० की शुरुवात तक, गांधीजी, गांधी सेवा संघ के सदस्यों तथा संभवतः अनगिनत अन्य लोगों के साथ, स्वयं को ऐसे कार्यों एवं विचारों में लगा रहे प्रतीत होते हैं जो आने वाले नये भारत को क्रियाशील करने के लिए संस्थाओं





एवं ढांचों का निर्माण करने का रास्ता प्रशस्त करेगा। क्योंकि यह कोई अलग–थलग काम नहीं था, इसलिए संघ के सदस्यों को न केवल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का सदस्य बनने की अनुमति थी, बल्कि वे संघ की विशेष अनुमति से, स्थानीय जरूरत को ध्यान में रखते हुए, नयी विधायिकाओं के लिए चुनाव में भी खड़े हो सकते थे। क्योंकि जैसा गांधीजी ने उनसे १९३६ में कहा, 'तथाकथित राजनैतिक और तथाकथित रचनात्मक कामों में कोई साफ–साफ विभाजन नहीं है, हमारे काम के तरीकों में साफ–साफ विभाजन नहीं होता है।'

सितम्बर १९३९ में यूरोप में युद्ध शुरू होने के साथ, भारत में भी राजनैतिक परिस्थिति में नाटकीय बदलाव आया। भारतीय राष्ट्रीयता और ब्रिटिश सत्ता में टकराव आसन्न दिखाई पड़ने लगा। इसके अतिरिक्त अन्य अनेकों गुंथे हुए कारणों की वजह से, गांधीजी ने फरवरी १९४० में संघ को सलाह दी कि वह खुद को सिकोड़ ले और राजनीति में भाग लिये बिना वह एक स्नातकोत्तर विद्यालय या शोध संस्थान बन जाये और उन संरचनाओं, संबंधों और राजतंत्र के आधारों पर काम करे जिनके ऊपर उन्होंने स्वयं और एक संस्था के तौर पर गांधी सेवा संघ ने पिछले छह वर्षों से सक्रियता से काम किया है। परन्तु जल्दी ही यह सब पीछे छूट गया। गांधीजी ने एक नया 'सविनय अवज्ञा आंदोलन' आरंभ कर दिया जिसमें अंग्रेजों से कहा गया कि वे 'भारत छोड़ें', फलतः देशव्यापी गिरफ्तारियां हुई, देशव्यावी स्तर पर दमन हुआ और अन्त में (अंग्रेजों द्वारा) भारत विभाजन की संभावनाएँ सामने लायी गयी।

गांधीजी के राजनैतिक और आर्थिक विचारों को सामान्यतः अव्यावहारिक और आदर्शवादी करार दिया जाता है। बीसवीं शताब्दी के संसार में संभवतः वे ऐसे लगते हों। परंतु फिर भी यह बात तब तक निश्चय पूर्वक नहीं कही जा सकती, जब तक कि इन विचारों की जाँच समुचित सूचनाओं, ज्ञान और समझ के आधार पर न कर ली जाए। दुर्भाग्यवश अभी तक ऐसा नहीं हुआ है, जिसका एक बड़ा कारण यह भी है कि भारत ने अपने लिए, इस समझ से अलग रास्ता चुना है। आंशिक कारण यह भी रहा है कि अभी तक 'गांधी वाङ्मय' के लिए उस समय की प्रासंगिक सामग्री एवं निजी पर्चे ब्रिटिश सरकार के अभिलेखागार से उपलब्ध नहीं थे। अब इस सामग्री का अधिकांश भाग सुलभ है, इसलिए अपनी समझ को स्पष्ट करने के लिए इस काम में शोध मूल्यवान होगा।

◆◆◆

# सेवाग्राम पर्यटन केंद्र नहीं तीर्थ है

तीस अप्रैल १९३६ के दिन गांधीजी वर्धा से पैदल चल कर सेवाग्राम पहुँचे। उस दिन सेवाग्राम आश्रम शुरू हुआ। उस घटना को पचास साल हो चुके हैं। इस बीच पूरा जमाना बदल गया। महाराष्ट्र सरकार अब २ अक्टूबर को आश्रम की स्वर्ण जयंती मनाना चाहती है। सरकार के सूचना और जनसंपर्क मंत्री जिचकर का कहना है कि वे इस अवसर पर बीस–पच्चीस 'बापू कुटिया' बनवाएंगे। ये कुटियां सभी आधुनिक सुविधाओं से युक्त होंगी। जयंती के बाद उन कुटियों को पर्यटकों के हवाले कर दिया जायेगा। इस देश की कोई सरकार बापू के नाम को पर्यटन व्यापार के लिए बरतने की कैसे सोच सकती है? मंत्री जिचकर मज़ाक कर रहे हैं क्या? या कहीं हम सब पगला तो नहीं गए कि हम पवित्र और बेहूदा में फर्क करना भूल गए हों? मंत्री जिचकर कहना क्या चाहते हैं? शायद वे जानते हों कि 'बापू कुटी' सेवाग्राम आश्रम में बनी उस झोंपड़ी का नाम है जहाँ रह कर बापू ने इस देश में नई जान फूँकी थी। मंत्री जिचकर बीस–पच्चीस या इससे ज्यादा 'बापू कुटिया' कैसे बनवाँएगे? और यह 'सभी आधुनिक सुविधाओं से युक्त' बापू–कुटी क्या होती है? मंत्री जिचकर के दिमाग में शायद गोवा और केरल के समुद्र तटों पर अमीर पर्यटकों के लिए बनीं मछुआरों की नकली लेकिन सुसज्जित झोपड़ियाँ बैठी हुई हैं। उन्हीं महंगी झोपड़ियों की तरज़ पर शायद मंत्री जिचकर बापू कुटियों का व्यापार चलाना चाहते हैं। आजकल हम धर्म–निरपेक्ष हैं। अच्छे–बुरे, पवित्र–अपवित्र में भेदभाव करने की अब हमें जरूरत नहीं रही। इस सब बातों को भूल कर हम सिर्फ पैसा कमाने के तरीकों पर

*(यह लेख सितम्बर, १९८६ में लिखा गया था)*





विचार करने के लिए मुक्त हैं। इसीलिए शायद युवा मंत्री जिचकर सेवाग्राम आश्रम की जयंती पर बापू के पवित्र नाम का व्यापार करने की सोचने लगे हैं। हमारे युवकों के दिमागों पर धर्म–निरपेक्षता का यह असर होता है तो शायद हमें इस नीति के बारे में ही एक बार फिर सोच लेना चाहिये।

सेवाग्राम में ग्रामीण भारत के ठीक बीच में रहने में गांधीजी का मुख्य उद्देश्य यह था कि वे आम देहातों की जीवन पद्धति और उसमें आने वाली मुश्किलों को ठीक से समझ सकें। दो साल पहले गांधीजी की सलाह पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ की स्थापना की थी। ग्रामोद्योग संघ और अखिल भारतीय चरखा संघ दोनों का उद्देश्य ग्रामीण जीवन की तकनीकी और आर्थिक व्यवस्थाओं को समृद्ध करना था। आशा थी कि यह दोनों संघ ग्रामीण जीवन को मजबूत करने के लिए आवश्यक शोध कार्य करेंगे और इस काम के लिए जरूरी संस्थाओं का विकास करेंगे। संघों के काम में सहायता करने के लिए गांधीजी ने बहुत सारे बड़े वैज्ञानिकों और तकनीकी विशेषज्ञों को न्योता था। उनमें से बहुत सारे खूब जोश से इस काम में जुड़े भी थे। दो साल बाद गांधीजी ने ग्रामीण भारत में सार्वजनिक शिक्षा सुलभ बनाने के लिए 'नई तालीम' आंदोलन शुरू किया था। सेवाग्राम इस आंदोलन का भी मुख्यालय बना। उस समय खेती से संबंधित मसलों पर कोई काम शुरू नहीं किया जा सका था। समझा जाता था कि जब तक आजादी नहीं मिलती तब तक खेती के बारे में कुछ विशेष नहीं किया जा सकता।

कताई–बुनाई, ग्रामोद्योग और नई तालीम के आंदोलनों ने ग्रामीण जीवन की कुछ खास जरूरतों को पूरा करना था। १९३६ के बाद सेवाग्राम में ही गांधी सेवा संघ की स्थापना हुई। इस संघ का उद्देश्य किन्हीं खास जरूरतों को पूरा करना नहीं बल्कि गांधीजी के सपनों के समाज के रूप और दिशा पर विचार करने के लिए व्यापक मंच उपलब्ध करवाना था। गांधीजी जैसे समाज की कल्पना करते थे, वैसा समाज तो शायद तुरंत नहीं बन सकता था। लेकिन संघ इस समाज के रूप को स्पष्ट कर, देश के लिए लक्ष्य उपस्थित कर सकता था। १९४० में गांधीजी ने इच्छा जाहिर की थी कि गांधी सेवा संघ को इस लक्ष्य को स्पष्ट करने के लिए और इसकी ओर देश को बढ़ाने में मदद करने के लिए एक स्नातकोत्तर शोध संस्थान के रूप में काम करना चाहिए।

गांधीजी द्वारा चलाए इन सब कामों की स्वर्ण जयंती पर उचित शायद यही हो कि सेवाग्राम एक बार फिर अपनी पुरानी भूमिका निभाने की कोशिश करे। अब सेवाग्राम से उतना व्यापक काम तो शुरू नहीं किया जा सकता। सेवाग्राम से होने वाले कामों को अब

काफी सीमित और कुछ खास दिशाओं में परिभाषित करना होगा। शुरुआत सेवाग्राम में एक शोध केंद्र बनाने से की जा सकती है। इस केंद्र में सभी सुविधाएँ उपलब्ध हों। इसका मुख्य उद्देश्य देश की पारंपरिक जानकारी और आधुनिक विज्ञान की व्यवस्थाओं को बरत कर महात्मा गांधी के मूल विचारों के अनुसार ग्रामीण भारत की समृद्धि के लिए प्रयास करना होगा। केंद्र को सामाजिक विज्ञान में भी ऐसे ही शोध कार्य करने होंगे। अपने शोध के आधार पर केंद्र शायद ऐसी नई आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाएँ सुझा पाएगा जो भारतीय मानस और गांधीजी के प्रिय आध्यात्मिक मूल्यों के अनुरूप समाज बनाने में सहायक हों। केंद्र को शुरू से ही या कुछ सालों बाद से स्नातकोत्तर पढ़ाई का काम भी शुरू करना होगा। इस पढ़ाई के दौरान केंद्र अपने विद्यार्थियों को केंद्र में हो रहे शोध कार्यों से अवगत कराएगा और उस शोध की दिशा में विद्यार्थियों को प्रेरित करेगा। इस तरह का काम करना यदि ठीक लगता हो, तो इसका सबसे अच्छा तरीका यही होगा कि सेवाग्राम में एक विशेष शोध संस्थान स्थापित किया जाए जिसे विश्वविद्यालय का दर्जा प्राप्त हो। इस तरह का संस्थान बना कर शायद सेवाग्राम के प्रतिष्ठा की रक्षा की जा सके। सेवाग्राम को पर्यटन केंद्र बना कर हम अपनी गरिमा भी खोएंगे, महात्मा गांधी की स्मृति की भी अवमानना करेंगे।

◆◆◆



# अभी पूरी छवि नहीं आ पाई गांधी जी की

गांधीजी द्वारा १९२० के आसपास स्थापित नवजीवन ट्रस्ट और भारत सरकार के सूचना मंत्रालय द्वारा दो साल पहले गांधी वाङ्मय शृंखला का नब्बेवाँ ग्रंथ प्रकाशित किया गया था। इसके साथ महात्मा गांधी ने अपने लंबे और सक्रिय जीवन में जो कुछ भी लिखा, लिखवाया या सार्वजनिक रूप से बोला, उसके बड़े हिस्से को संकलित कर छापने का काम पूरा हो गया है। गांधीजी का सारा लेखन और सारे भाषण गुजराती, हिंदी और अंग्रेजी भाषाओं में हैं। वाङ्मय के ये ग्रंथ अंग्रेजी के साथ–साथ हिंदी और गुजराती में भी प्रकाशित किए गए हैं। देश के अनेक राज्यों में गांधी वाङ्मय को स्थानीय भाषाओं में अनुवाद करके छापने का काम भी चल रहा है। वाङ्मय को संकलित करने का फैसला १९५० के दशक के शुरू में शायद, सरदार वल्लभ भाई पटेल के जीवनकाल में ही हो गया था। लेकिन प्रकाशन के इस अद्वितीय प्रयास पर अधिकतर काम १९६० के बाद ही हुआ है। प्रो. के. स्वामीनाथन और उनके अनेकानेक साथियों ने बहुत परिश्रम और श्रद्धा से इस महत्त्वपूर्ण कार्य को पूरा किया है। भारत की जनता और राष्ट्र इस काम के लिए उन सबका सदा आभारी रहेगा। हजारों व्यक्तियों और संस्थाओं ने, गांधीजी के अपने हाथ से लिखी जो भी सामग्री उनके पास थी, उसे गांधी वाङ्मय तैयार करने वाली संस्था को भेजकर, इस काम में योगदान दिया है। इन सब संस्थाओं और व्यक्तियों के सहयोग के बिना गांधीजी के संपूर्ण वाङ्मय को संकलित कर छापने का काम असंभव होता।

गाँधी वाङ्मय तैयार करने वाली संस्था के पास पिछले कुछ सालों में गांधीजी की

---

*(यह लेख अक्टूबर १९८६ में लिखा गया था)*

लेखनी के कुछ नये अंश पहुंचे हैं। इस पूरी सामग्री को आठ–दस ग्रंथों में छापने का प्रस्ताव है। वाङ्मय संस्था सभी ९० ग्रंथों के लिए एक समेकित विषम अनुक्रमणिका निकालने पर भी काम करेगी।[1]

महात्मा गांधी के संपूर्ण वाङ्मय को संकलित करने का काम है ही इतना व्यापक कि वाङ्मय के ९० ग्रंथों और प्रस्तावित पूरक ग्रंथों के बावजूद, गांधीजी के लेखन के कुछ अंशों का वाङ्मय में सम्मिलित होने से रह जाना स्वाभाविक ही था। लेकिन ऐसा लगता है कि गांधीजी द्वारा लिखी गई बहुत सारी सामग्री वाङ्मय संस्था तक पहुंच ही नहीं पाई। वाङ्मय को पूरा करने के लिए शायद यह जरूरी था कि शुरू में पहली बार की गई खोजबीन जितनी ही व्यापक खोजबीन एक बार फिर की जाती। उन सब संस्थाओं और व्यक्तियों को जिन्हें पहली बार गांधीजी से जुड़ी सामग्री भेजने के लिए कहा गया था, एक बार फिर संपर्क किया जाना चाहिए था और पहली खोजबीन से लेकर अब तक उनके हाथ लगी सामग्री को वाङ्मय संस्था तक पहुंचाने का अनुरोध किया जाना चाहिए था। लेकिन बीस साल तक लगातार कठिन परिश्रम करने के बाद वाङ्मय संस्था में पहले जैसी खोजबीन दुबारा शुरू करने की हिम्मत और शक्ति शायद नहीं बची थी। वाङ्मय के अपूर्ण रह जाने का यही मुख्य कारण दिखाई देता है। दूसरा कारण शायद यह भी है कि कुछ व्यक्ति और संस्थान अपने पास उपलब्ध सामग्री को संपूर्ण वाङ्मय में सम्मिलित करवाने की आवश्यकता ठीक से नहीं समझ पाए हैं।

गांधीजी के लेखन के हजारों अंश शायद अभी तक अप्रकाशित हैं। मैं ऐसे दो अंश नीचे दे रहा हूँ। इन अंशों को पढ़कर अप्रकाशित रह गयी सामग्री के महत्त्व का अंदाजा हो जाएगा। गांधीजी ने नोआखाली (अब बांग्लादेश में) १३ दिसम्बर, १९४६ की प्रार्थना सभा में जो भाषण दिया था, उसकी गांधीजी के हाथ से संशोधित मूल प्रति में कहा गया है – "ग्राम सेवक का मुख्य काम गांव की सफाई करवाना है। आज ग्राम, देहाती क्षेत्र पर गलते हुए फोड़ों की तरह दिखाई देते हैं। अपनी सारी बीमारियों के लिए अंग्रेजों को कोसने

*१ सन् १९८६ से सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय के दस पूरक खण्ड और प्रकाशित हुए हैं जिससे खण्डों की पूरी संख्या एक सौ हो जाती है। इनमें तीन खण्डों में एक में विषय–सूची, दूसरे में नामावली सूची और तीसरे में ९७ खण्डों की प्रस्तावनाएँ हैं। खण्ड ९६ में गांधीजी द्वारा मुख्यत: हरमन कालेन बाख को लिखे पत्र हैं, कुछ पत्र हेनरी पोलाक और उनके परिवार को लिखे पत्र भी इस खण्ड में शामिल हैं। इन पूरक खण्डों में एच. डब्ल्यू. एमर्सन को लिखे पत्र भी शामिल हैं, जिनका उल्लेख आगे आया है।*



का कोई लाभ नहीं। अंग्रेज देश छोड़कर जाने वाले हैं। सरकार पहले ही अपने लोगों ने चलानी शुरू कर दी है।"

"जब अंग्रेजों ने शुरू–शुरू में भारत पर अपना शासन जमाया तब उनका विचार यहाँ ऐसे नगर बसाने का था जिनमें सभी समृद्ध लोग आकर इकट्ठे होते जाएँगे और अंग्रेजों के साथ मिलकर देहात को लूटने में उनकी मदद करेंगे। ये नगर कुछ हद तक सुंदर बनाए गए थे। नगरवासियों को सब तरह की सेवाएँ–सुविधाएँ उपलब्ध करवाई गई थीं। दूसरी ओर लाखों–करोड़ों ग्रामीणों को अपने दारिद्रय और अज्ञान में असहाय घुटने के लिए छोड़ दिया गया था। अब जबकि हमारे अपने ही लोग सरकार चला रहे हैं तो किसी को यह कहने का अवसर नहीं मिलना चाहिए कि हम लोगों ने भी ग्रामीणों को अपने हाल में छोड़कर सिर्फ नगरवासियों की परवाह की। गुजराती में एक कहावत है – "जब से जगे रे भाई, तब से सवेरा।" अपनी सरकार के लिए भी अब सवेरा होना चाहिए। प्रदेशों की कांग्रेसी और लीगी सरकारों को अब ग्रामीण जीवन में जान फूंकने की जरूरत के प्रति जागरूक हो जाना चाहिए।"

"लेकिन यह काम सिर्फ सरकार का नहीं है। भारत एक बड़ा राष्ट्र तो तभी बन पाएगा जब प्रत्येक नागरिक सार्वजनिक काम में अपना हिस्सा बाँटने लगेगा।" फिर गांधीजी ने स्थानीय कार्यकर्ताओं का ध्यान आसपास के गांवों की दुर्दशा की ओर खींचा, "पीने के लिए साफ पानी कहीं नहीं मिलता, सड़कें बुरी हालत में हैं, नहरें पानी में उगने वाले – झाड़–झंगाड़ से अटी पड़ी हैं। गांव में शिक्षा का कोई प्रबंध नहीं है। गांववासियों के दिमागों पर अज्ञान का अंधेरा छाया हुआ है। हर गांव में हैजा, पेचिश और चेचक फैल रही है। ये सब बीमारियाँ ऐसी हैं जिन्हें रोकना असंभव नहीं है। गांवों में दुष्ट लोगों की भरमार है और ये लोग अपने स्वार्थ के लिए झगड़े उकसाने का कोई अवसर नहीं छोड़ते।"

"देहात के शरीर और मानस दोनों को जकड़ने वाली इस भयंकर बीमारी का मार्जन करने का काम हर कार्यकर्ता को अपने कंधे पर उठाना होगा। भारत में श्रम शक्ति की कोई कमी नहीं है। केवल सभी के प्रयासों को सही दिशा से संयोजित करना जरूरी है। सरकार बहुत कुछ कर सकती है, लेकिन यह तभी संभव है जब प्रबुद्ध जनमत उनके पीछे हो। आज गांवों में मनुष्य कीड़े–मकोड़ों की जिंदगी जी रहे हैं। यह अंधेरा धैर्य के साथ सतत प्रयास करते रहने से ही दूर हो पाएगा। फिर दुष्ट लोगों को गांवों में ऐसा वातावरण नहीं मिल पाएगा जिसमें वे फल–फूल सकें। जब दारिद्रय और अज्ञानता दूर हो जाएँगे तो विभिन्न समुदायों में मधुर संबंध भी स्थापित होने लगेंगे।"

गांधी जी ने कहा कि वे इसी उद्देश्य से नोआखाली आए थे। जब तक उनका काम पूरा नहीं हो जाता तब तक वे वहां से नहीं जाएँगे। उन्होंने कहा कि इस काम में वे अपना जीवन होम करने को भी तैयार हैं।

यह अप्रकाशित भाषण हिंदू–मुस्लिम झगड़े के उस काल में प्रार्थना सभाओं में दिए गए गांधीजी के प्रकाशित भाषणों से एकदम अलग दीखता है। आमतौर पर यह मान लिया गया है कि अगस्त १९४६ से अपने जीवन के अंतिम दिनों तक गांधी जी हिंदू–मुस्लिम झगड़े को शांत करने और इस झगड़े से बने जख्मों पर मरहम लगाने में ही व्यस्त थे। यह झगड़ा अपने आप उठा था या भारत को तोड़ने और यहां अस्थिरता फैलाने पर उतारू शक्तियों द्वारा उकसाया गया था, यह सवाल तो ऐतिहासिक शोध और अनुमान का विषय बना रहेगा। यह ठीक है कि इस दौर में गांधीजी लगातार हिन्दू–मुस्लिम मैत्री और सामान्यतः सभी समुदायों में परस्पर मैत्री स्थापित करने की कोशिश में लगे रहे। लेकिन जख्मों पर मरहम लगाने का काम करते हुए गांधीजी देश के लिए ज्यादा मूलभूत प्रश्नों को भूल नहीं बैठे थे। यह बात ऊपर दिये प्रार्थना–भाषण से एकदम साफ हो जाती है। ये मौलिक प्रश्न गांधीजी के लिए हमेशा महत्त्वपूर्ण रहे हैं। कम से कम १९०९ में 'हिन्द स्वराज' लिखने के बाद से तो गांधीजी इन मुद्दों के बारे में हमेशा ही महत्त्व देते रहे हैं। यहाँ यह बता देना शायद जरूरी है कि १३ दिसम्बर, १९४६ को प्रार्थना सभा वाला भाषण गांधीजी के एक सचिव ने लिखा था, लेकिन इसमें गांधीजी ने स्वयं अपने हाथ से बहुत–सी काट–छांट की थी। यह ध्यान में रखना चाहिए कि ७० साल की उम्र में जब नोआखली क्षेत्र में गांधी जी गांव–गांव में घूम रहे थे तब भी वे लिखने, लिखवाने और दूसरों का लिखा गया सुधारने का काम रोजाना ही करते थे। जिस स्रोत से नोआखली वाला भाषण लिया गया है, उसमें गांधीजी के लिखे हुए सैकड़ों पृष्ठ उपलब्ध हैं और शायद इतने ही पृष्ठ दूसरों द्वारा लिखे गये परन्तु गांधीजी द्वारा संशोधित किये हुए होंगे।[२]

गांधीजी के लेखन का दूसरा अंश जो मैं यहां देने जा रहा हूं, वह मार्च १९३१ के गांधी–इर्विन समझौते के बाद की घटनाओं से संबंधित है। यह दस्तावेज लंदन में उपलब्ध है और इसकी एक फोटो प्रति मैंने हाल ही में गांधी वाङ्मय संस्था को भिजवा

*२ एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ताः 'पेपर्स ऑफ निर्मल कुमार बोस', लगभग दस खण्ड (१९४६–१९४७) जिसमें महात्मा गाँधी द्वारा अपने हाथ से लिखे उनके नोआखली और बाद में बिहार की प्रार्थना सभाओं में दिये गये भाषण हैं।*





दी है। इस दस्तावेज में लिखा गया है:–

"तुम्हारा व्यक्तिगत पत्र मैं यह उत्तर लिखने के तुरंत बाद नष्ट कर दूंगा। मैं उस अंग्रेजी कहावत में विश्वास करता हूं जिसमें कहा गया है कि अपनी पेनियों (पैसों) का हिसाब रखो, पौण्डों (रुपयों) का हिसाब अपने आप हो जाएगा। अगर हम अपने छोटे से समझौते में ईमानदारी बरतते हैं, तो लंदन में उठने वाले बड़े मुद्दे अपने आप सुलझ जाएँगे। इसलिए मैं चाहता हूं कि तुम्हें अपनी ओर से सब कुछ ठीक–ठाक कर देना चाहिए। प्रदेशों में कांग्रेस और कांग्रेसी भावना को दबाने की कोशिश हो रही है। यह तो अपने साझीदार पर अविश्वास करने या उसे छोटा दिखाने की कोशिश करने जैसी बात हुई। अपनी ओर से, मैं नहीं चाहता कि तुम इस मामले में मेरी किसी भी गलती को नजरअंदाज करो। अगर तुम मुझमें कोई दोष देखते हो तो मैं उनके बारे में सुनना चाहूँगा। हमारी तरफ से हुए समझौते में किसी तरह के उल्लंघन को मैं न तो छिपाना चाहता हूँ और न ही उसकी अनदेखी करना चाहता हूँ। मैं चाहूँगा कि हम लोग अपने किसी भी गलत कामों को ठीक करें। क्योंकि मैं पूरी संजीदगी के साथ स्थायी समझौता चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि हमारे बीच एक ईमानदार साझेदारी स्थापित हो सके। हम अपनी कमजोरियों को छिपाएंगे या अपने कार्यकर्ताओं की गलतियों को माफ करते जाएंगे तब तो ईमानदार साझेदारी असंभव हो जाएगी। मैं चाहता हूं कि तुम वे चिट्ठियाँ देख पाते जो मैं रोज अपने कार्यकर्ताओं को लिखता हूं और उस बातचीत को सुन पाते जिसमें मैं इस समझौते पर, जिसे तुमने भद्र पुरुषों के बीच समझौते की संज्ञा दी है, ईमानदारी से अमल करने की आवश्यकता पर बल देता हूँ।

खान साहब के भाषणों की सभी रपटें सही नहीं हैं। तुम्हारे लिए उनसे मिल पाना संभव होता, तो अच्छा होता। पंडित जवाहर लाल की चिट्ठी के बारे में तुम्हें बाद में मैं लिखूंगा। तुम्हें बीमार नहीं पड़ना है। अपनी टिप्पणी के साथ जो अखबार की कतरन तुमने भेजी थी, उसने दवा का काम किया। सब तरह की शिकायतों से भरी चिट्ठियों का जवाब देने की थकावट भरे काम से होने वाली निराशा, तुम्हारी कतरन और टिप्पणी से कुछ हट गई। आशा करता हूं कि तुम्हारी सेहत अब पहले से बेहतर होगी।"

इस पत्र से साफ है कि महात्मा गांधी और भारत सरकार के तत्कालीन गृहसचिव, एच. डब्ल्यू. एमरसन, जिसे यह पत्र लिखा गया है, के बीच थोड़ी–सी मित्रता की भावना पनप चुकी थी। भारत के बारे में ब्रिटिश सरकार द्वारा बुलाई गई कांफ्रेंस में, राष्ट्रीय कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में, लंदन जाने का फैसला लेने के कुछ पहले, अगस्त १९३१

में, गांधीजी ने एमरसन को झाड़ते हुए लिखा था, "मैं यह पत्र तुम्हें यह बताने के लिए लिख रहा हूं कि शिमला में तुम्हारी अड़ँगे डालने वाली चालों से मुझे बहुत दुःख पहुँचा है।" इस पत्र के अंत में गांधीजी ने लिखा, "मेरे दाएं हाथ को थोड़ा आराम की जरूरत है। इसलिए मुझे यह पत्र बाएँ हाथ से लिखना पड़ रहा है। इस तरह के व्यक्तिगत पत्र को मैं बोलकर किसी दूसरे से तो लिखवा नहीं सकता था।" यह पत्र गांधीजी ने लंदन के लिए जहाज लेने के लिए बंबई जाते समय रेलगाड़ी में लिखा था। पत्र पर २८ अगस्त, १९३१ की तारीख है। अपने जवाब में एमरसन ने इस बात से इंकार किया कि शिमला में उसने अड़ँगे डालने की कोशिश की। उसने दावा किया कि वह तो वास्तव में सहायता करने की कोशिश कर रहा था। एमरसन ने यह भी कहा कि उसे नहीं मालूम था कि गांधी जी दोनों हाथ से लिख सकते हैं। उसने लिखा, "आपके बाएँ हाथ की लिखाई की सुंदरता पर मैं बधाई देना चाहता हूँ। मैं दाएँ हाथ से भी इतनी सफाई से नहीं लिख पाता।" आगे उसने लिखा – "आपने मित्र होने के नाते मुझे झाड़ पिलाना उचित समझा। मैं भी उसी मित्रता के नाते एक सुझाव देना चाहूंगा। आप यह मानकर चलिए कि ब्रिटिश राजनेता और ब्रिटिश जनता, भारत का, उनसे जितना बन पड़े उतना, भला ही करने के इच्छुक हैं। अगर कुछ मुद्दों पर उनके विचार आपके विचारों से मेल न खाते हों, तो यह मत मान बैठिए कि ऐसा अविश्वास या स्वार्थ के कारण हो रहा है। यह मानकर चलिए कि वे ईमानदार हैं और वो जो भी कह रहे हैं उसमें विश्वास रखते हैं और जब तक उन्हें कोई दूसरी बात समझ नहीं आयेगी, वे ऐसा ही कहते रहेंगे।" पत्र के अंत में उसने लिखा – "और हां, जैसा कि मैंने वाइसराय की कोठी में अलविदा करते वक्त आपको याद दिलाई थी, लंदन में जब मैं आपकी देखभाल करने के लिए नहीं रहूंगा, तब आप कोई नई शरारत मत शुरू कर बैठियेगा।'' यहं पत्र सितम्बर १, १९३१ को लिखा गया था और गांधीजी को लंदन पहुंचने के बाद मिला।

एमरसन ने गांधीजी को लिखा था कि ब्रिटिश राजनेता जहां तक बन सके भारत का भला ही करना चाहते हैं। उन राजनेताओं को भारत के भले के लिए जो सबसे उत्तम योजना सूझी वह थी कि देश भर में दमनचक्र चालू कर दिया जाए। ब्रिटेन में चार महीने रहने के बाद फ्रांस, स्विटजरलैंड, इटली, आदि में रुकते हुए जब गांधीजी वापस बंबई पहुंचे, तब तक यह दमन कई गुना बढ़ा दिया गया था। एच. डब्ल्यू. एमरसन अभी भी भारत सरकार के गृहसचिव थे। स्वाभविक ही है कि देश की जनता पर इस कदर सरकारी दमन के बाद गांधीजी के साथ उसके रिश्ते में पहले जैसी गर्मजोशी नहीं रही। लेकिन फिर





भी उनके संबंधों में थोड़ी–बहुत अन्तरंगता देखी जा सकती है, चाहे इसमें अब कडुवाहट की झलक भी मिलती है। जनवरी २७, १९३२ में गांधीजी ने एक बार फिर – इस बार जेल से – एमरसन को पत्र लिखा। इसमें वे लिखते हैं – "मुझे लगता है कि जो दमनचक्र आजकल चल रहा है, उसके पीछे तुम्हारा ही दिमाग है। मेरा अनुमान अगर सही है, तो मुझे शायद किसी भी घटना पर कोई हैरानी नहीं होनी चाहिए। दिल्ली में तुम्हीं ने मुझे कहा था कि मित्रता में तुम जितनी गर्मजोशी दिखा सकते हो, उतने ही जोश से लड़ाई में वार भी कर सकते हो। मैं तुम्हें अपना दुश्मन नहीं समझूंगा।"

इसके बाद गांधीजी ने एमरसन को महिलाओं को पीटे जाने, लोगों पर अत्यंत निर्दयता दिखाये जाने, एवं इसी प्रकार दमन के अनेक उदाहरण दिये। आखिर में गांधीजी ने लिखा कि – "निवेदन करता हूँ कि तुम अपने कदम वापस ले लो। हमें ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए जिससे ब्रिटिश सरकार और कांग्रेस भविष्य में अपने मन में एक दूसरे के प्रति कडुवाहट लेकर मिलें।" इस पत्र के जवाब में एमरसन ने गांधीजी को एक निजी चिट्ठी लिखी, लेकिन भेजने से पहले उसने अपने इस जवाब को वायसराय से अनुमोदित करवा लिया था। इसमें एमरसन ने दमन और अत्याचार के लिए सफाई देने की कोशिश की और लिखा कि, "हर बार की तरह इस बार भी एक दूसरे में दोष ढूंढे जाएंगे। मैं सिर्फ इतना कह सकता हूं कि सरकार अत्याचार और बदले की भावना से परिपूर्ण गतिविधियों को जहां तक सम्भव है, रोकने की कोशिश कर रही है और करती रहेगी।" एमरसन ने अपने पत्र में इस तरह का इशारा भी किया कि क्योंकि गांधीजी को अपने लोगों के प्रति वफादारी निभाने की बाध्यता है, इसलिए वे अपने लोगों के उन कार्यों को भी गलत नहीं कह पाएंगे जिन्हें वे (व्यक्तिगत तौर पर) गलत मानते होंगे। गांधीजी ने १३ मार्च, १९३२ को इसके जवाब में जो लिखा उस पर बहुत गंभीरता से विचार करना चाहिए। गांधीजी लिखते हैं – "मैं यह पत्र सिर्फ आपकी एक भयंकर गलतफहमी दूर करने के लिए लिख रहा हूँ। अपने साथियों के प्रति वफादारी निभाने के लिए आपने मेरी जो प्रशंसा की है, जैसे कि इस तरह की वफादारी निभाना ही मेरे जीवन का सबसे ऊँचा आदर्श हो, उसे मैं स्वीकार नहीं कर सकता। काश ! आप यह जानते कि मेरी सारी निष्ठाएँ, सत्य के प्रति मेरी निष्ठा के सामने छोटी हैं। पिछले १२ सालों के दौरान मेरे जीवन में अनेक ऐसे अवसर आए हैं जब, जिस बात को मैंने सही माना, उस पर अड़े रहने के लिए, अपनी मित्रता को भी मुझे कुर्बान करना पड़ा है। गांधीजी ने आगे लिखा, "अगर देवता (आप) लोग यह बात समझते कि मेरी निष्ठा अपने साथियों से कहीं ज्यादा सत्य के प्रति है और

वायसराय के साथ मुलाकात करने के मेरे निवेदन को मान लिया जाता, तो शायद इतिहास अलग तरह से लिखा गया होता। लेकिन दिल्ली के देवताओं या भगवान की इच्छा कुछ और ही थी।"

इन पत्रों को मैंने कुछ साल पहले लंदन में देखा था। प्रसन्नता की बात है कि वांङ्मय संस्था ने इन्हें लंदन से मंगवाने की जहमत उठाई है। और सौभाग्यवश २७ जनवरी और १३ मार्च, १९३२ को एच. डब्ल्यू. एमरसन के नाम गांधीजी ने जो पत्र लिखे थे, वे अब संपूर्ण वांङ्मय पूरक ग्रंथों में जोड़े जा रहे हैं।[3]

अप्रकाशित सामग्री के कुछ और उदाहरण उस सामग्री से हैं जिसे गांधीजी के 'अंतिम संकल्प और विधान' की संज्ञा दी जाती है। इस 'अंतिम पत्र' में, गांधीजी ने अपनी मृत्यु के तुरंत पहले राष्ट्रीय कांग्रेस को लोक सेवक संघ में बदले जाने की सलाह दी थी। लेकिन शायद यह विचार गांधीजी के मन में बहुत पहले, १९३१ से ही, पनपने लगा था। उस समय उन्होंने पंडित जवाहरलाल नेहरू को यह कहकर चकित कर दिया था कि "आजादी के बाद कांग्रेस सिर्फ एक शर्त पर कायम रखी जानी चाहिये जिसके तहत कांग्रेस एक ऐसा आत्मत्यागी अध्यादेश पारित करे जिसमें यह शर्त हो कि कांग्रेस का कोई भी सदस्य सरकार की कोई भी सवैतनिक नौकरी स्वीकार नहीं कर सकता। और यदि कोई सदस्य सरकार में ऐसा कोई सत्ता का पद पाने का इच्छुक हो, तो उसे कांग्रेस छोड़नी होगी।" बाद में पंडित नेहरू ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा था, ''इसके पीछे यह विचार था कि कांग्रेस सत्ता से विरक्त होकर और अपने सभी स्वार्थों से मुक्त होकर कार्यपालिका और सरकार के दूसरे विभागों पर भारी नैतिक दबाव डाल सकेगी, और इस दबाव से सरकार को ठीक रास्ते पर रखा जा सकेगा।'' १९४६ में जब अखिल भारतीय कांग्रेस समिति में कांग्रेस के पुनर्गठन पर विचार हो रहा था, तो गांधीजी ने अपने उस पुराने परामर्श को और विस्तार के साथ प्रस्तुत किया था।

लेकिन छुट–पुट खोजों और इधर–उधर चन्द व्यक्तियों से मिलने वाले कुछ सुझावों से ही सिर्फ वांङ्मय संस्था और देश के समक्ष इस महान काम से निपटा नहीं जा सकता। इस तरीके से गांधी वांङ्मय के सभी छूटे हुए अंशों को संकलित कर पाना असंभव है। छूटे हुए अंशों में से जो मिल सकते हैं, उन्हें पाने के लिए भी वांङ्मय संस्था को पहले

*३ इण्डिया आफिस लाइब्रेरी, लंदन आर./३/१/२८९: महात्मा गांधी के बारे में टिप्पणियाँ और उनसे पत्राचार (मुख्यत: १९३१–१९३२)*





जैसे ही व्यापक परन्तु नये सिरे से प्रयास करने की जरूरत है। साथ ही जिन व्यक्तियों ने अपने पास पड़ी गांधीजी की सामग्री को गांधी वांङ्मय संस्था तक पहुँचाना अभी तक जरूरी नहीं समझा है, उन्हें किसी तरह ऐसा करने के लिए मनाने की कोशिश भी करनी होगी।

यह प्रश्न तो उठता ही है कि वांङ्मय के नब्बे ग्रंथों और इनमें संकलित लाखों–करोड़ों शब्दों का उपयोग क्या है? सेवाग्राम में हाल में हुई एक बैठक में महाराष्ट्र सरकार के एक मंत्री ने टिप्पणी की थी कि सार्वजनिक वाचनालयों में ये पुस्तकें मुफ्त भी भेजी जाएँ, तो भी इन्हें पढ़ने में कोई रुचि लेता नहीं दीखता। हो सकता है कि मंत्री महोदय को इस बारे में गलत सूचना मिली हो या फिर यह भी हो सकता है कि महाराष्ट्र राज्य में वाकई में ऐसी हालत हो। लेकिन यह भी सम्भव है कि महाराष्ट्र राज्य के मंत्री का, वांङ्मय की उपयोगिता के बारे में, जो विचार है वैसा ही विचार देश के अन्य हिस्सों के बहुतेरे सत्ताधारी लोगों का भी हो।

क्या संपूर्ण गांधी वांङ्मय भी गांधीजी की स्मृति में बनाई गई एक और समाधि जैसी है, जिसे हमने पत्थर और चूने से बनाने के बजाय कागज पर छापकर बनाया है? जिस तरह से अभी तक हम वांङ्मय के काम को चलाते रहे हैं, उससे तो ऐसा ही लगता है कि संपूर्ण गांधी वांङ्मय को भी हम पत्थर–चूने से बने स्मारकों या ताले–चाबी में सुरक्षित रखी जाने वाली गांधीजी की घड़ियों–चप्पलों, आदि की तरह ही निर्जीव मान रहे हैं। वांङ्मय के ग्रंथों को भी हम अजायबघर में रखे जाने वाले अजूबे समझकर ताले में बंद कर देना चाहते हैं। मैं स्मारकों के महत्त्व को कम नहीं आँकता। सार्वजनिक जगहों पर गांधी जी की मूर्तियों को लगाने का महत्त्व है। अगर भारत माता के इस महान सपूत की स्मृति में हम भारतीय शिल्पकला और स्थानीय साजो–सामान बरतकर तंजावुर या चिदांबरम के समान कोई भव्य मंदिर खड़ा करें, तो वह हमारी गांधीजी के प्रति स्मरणीय श्रद्धांजलि होगी। इस तरह के विशाल और गौरवमय स्मारकों का बहुत भारी महत्त्व होता है, खासकर जब वे किसी बड़े विचार का प्रतिनिधित्व करने या अपने इतिहास के किसी महान क्षण या अपने किसी महान पुरुष की स्मृति में बनाये जाते हैं।

संपूर्ण वांङ्मय के जरिये गांधीजी की जीवन–दृष्टि और दुनिया में मनुष्य की स्थिति के विषय में उनके विचारों को एक ज्यादा गहन, सार्वदेशिक और ज्यादा स्थायी अर्थ दिया जा सकता है। इस प्रकाशन के बाद गांधीजी को सिर्फ सत्याग्रह के एक बहुत बड़े प्रवर्तक, या सिर्फ एक महान नेता, या सिर्फ एक त्यागी ऋषि, या सिर्फ पिछले दो हजार सालों में

पैदा होने वाले भारत माता के श्रेष्ठतम सुपुत्र या सिर्फ एक अनुकरणीय मनुष्य के रूप में नहीं देखा जा सकता। इन सब रूपों में तो वे हैं ही, लेकिन हमारे वर्तमान काल के संदर्भ में और शायद मानव इतिहास के संदर्भ में भी, उन्हें प्लेटो, गौतम बुद्ध, नजारथ के जीसस, या कंफूशियस या चीनी संत लाओत्से के समकक्ष रखकर देखना होगा। उनके जीवन और उनके विचारों को, कम से कम, उतनी गंभीरता से समझने की कोशिश और अहमियत तो देनी ही होगी जितनी यूरोप में मध्ययुगीन पादरियों को, मार्टन लूथर को, फ्रांसिस बेकन और लेब्नित्स को, और हाल में ही हेगल और कार्ल मार्क्स को दी गयी है। मानव जीवन और मानव प्रयासों के हर पहलू के बारे में गांधीजी के विचारों के बारे में तो सोचना ही होगा, हालांकि यह कतई जरूरी नहीं कि हम हर क्षेत्र में उनके सभी विचारों के साथ सहमत ही हों। विज्ञान, राजनीति और अर्थशास्त्र, दर्शन और मनोविज्ञान, समाज–शास्त्र और राजनीति शास्त्र, इन सब शास्त्रों और विज्ञानों को और उसकी अवधारणाओं को गांधीजी के विचारों की कसौटी पर परखना होगा। हर क्षेत्र में या तो गांधीजी के विचारों, शब्दों और कार्यों की उस क्षेत्र की मूल अवधारणाओं के साथ संगति बैठानी होगी या फिर यह स्पष्ट करना होगा कि हम कहां, किस तरह और किस लिए गांधीजी की दिशा से अलग जा रहे हैं। गांधीजी के विचारों पर हमें उतनी ही गंभीरता और व्यापकता से मनन करना होगा, जितनी गम्भीरता और व्यापकता से महात्मा गौतम बुद्ध, प्लेटो, कंफूशियस और थोड़े भिन्न स्तर पर हेगल और कार्ल मार्क्स के विचारों पर मनन हुआ है।

जो लोग गांधीजी के जीवन काल में उनके निकट संपर्क में आए, और उनमें से कुछ लोग तो ऐसे थे ही जो विद्वान समझे जाते थे और जिनमें बौद्धिक विश्लेषण करने की क्षमता थी। हमारा दुर्भाग्य है कि इन लोगों ने भी गांधीजी के दृष्टिकोण के मूल तत्व को पहचान कर उसे स्पष्ट रूप से सामने रखने की कोशिश नहीं की। वे लोग यह काम कर जाते तो गांधीजी के विचारों पर गंभीर चिंतन और मनन का काम तीस–चालीस साल पहले ही शुरू हो सकता था। परन्तु लगता है कि गांधीजी के निकट रहे इन विद्वानों की भीरुता के कारण, या उनकी अपनी भद्रलोक परवरिश के कारण, या फिर शायद इनमें गांधीजी के विचारों, तर्कों एवं समझ के प्रति एक अंदेशा आखिर तक बना रहने के कारण, या शायद गांधीजी को हर ओर से बचाने की स्वाभाविक इच्छा के कारण ये गांधीजी के विचारों के अच्छे विश्लेषण और विचारों को तार्किक ढंग से आगे बढ़ाने की दृष्टि से असमर्थ रहे। जिस आदमी के लिए उन्होंने अपनी सारी जिंदगी कुर्बान कर दी थी, उस आदमी को वे दुनिया के सामने ठीक ढंग से पेश करने में असफल रहे। वे गांधीजी के सक्षम वक्ता और समर्थक



नहीं बन पाये।

गांधीजी के निकट संपर्क में आने वाले उनके विद्वान शिष्य विभिन्न कारणों से उनके विचारों के मूल सत्व को खुलकर सामने लाने से कतराते रहे। इससे गांधीजी का कुछ भला होने के बजाय उनके बारे में भ्रम ही फैला है। एक उदाहरण देखिए। गांधीजी ने अपने जीवन में ब्रह्मचर्य पर अनेक प्रयोग किए। ये प्रयोग १९०६ में उनके ब्रह्मचर्य का व्रत लेने के साथ ही शुरू हो गए थे। फिर १९३६ से १९४७ के बीच उन्होंने इस बारे में व्यापक प्रयोग किये। इन प्रयोगों को अक्सर विद्वान और आम लोग भी समझ नहीं पाए। उन्हें गलत रूप से पेश किया जाता रहा और इनके गलत अर्थ निकाले गए हैं। यह सब उन लोगों की कायरता और नासमझी के कारण ही हुआ जो कभी गांधीजी के विचारों के वाहक होने का दम भरते रहे थे, और जो अपने को गांधीजी की साख और छवि का संरक्षक तो मानते ही थे। जून १९३८ में गांधीजी अपने इन प्रयोगों के बारे में एक विस्तृत लेख लिख रहे थे। उनके विद्वान शिष्यों और सचिवों ने अपने प्यार और निष्ठा की दुहाई देकर उन्हें अपना वह लेख वापस ले लेने पर मजबूर कर दिया था। यह लेख प्रकाशित हो गया होता तो निश्चय ही ब्रह्मचर्य के साथ जो प्रयोग गांधीजी ने किए थे, उन्हें ठीक से समझा जा सकता था। यह जरूरी नहीं है कि समझने के बाद सभी लोग इन प्रयोगों के साथ सहमत ही होते। लेकिन उन दिनों हम लंबी राजनैतिक गुलामी से अपना मानसिक संतुलन खो चुके थे। हमें हमेशा यह डर बना रहता था। जिस सम्बल को पकड़कर हम कुछ हद तक बचे हुए थे, उसी को अगर हमने खुलकर अपने हिसाब से चलने दिया, तो शायद हम कहीं के न रहेंगे। उस संदर्भ में, अगर गांधीजी के शिष्यों ने गांधीजी के वैचारिक जीवन के सभी पहलुओं को खुलकर सामने आने से रोकने की कोशिश की, तो यह कोशिश भी शायद कुछ हद तक समझी जा सकती है।

सिर्फ विद्वानों ने ही नहीं, देश की आम जनता ने भी गांधीजी के विचारों और उनके काम करने के तौर तरीकों को बहुत गंभीरता से नहीं लिया। देश की जनता उनके पीछे–पीछे चलने को तैयार थी, उनके इशारे पर लोग अपना जीवन उत्सर्ग कर सकते थे। वे आगे बढ़ने या मर मिटने का नारा लगाते, जैसे कि उन्होंने १९४२ में किया, तो भी लोग उनके साथ चलने को तैयार थे। लेकिन यह विशाल जनता उनके व्यक्तित्व की चाहे पूजा करती रही हो, उनके विचारों और काम करने के तरीकों को तो यांत्रिक तरीके से ही लेती रही। इसी यांत्रिक समझ के कारण हम गांधीजी के सादा जीवन के आदर्श पर, दरिद्र नारायण के लिए उनके सतत प्रेम पर, सामाजिक स्तर पर पिछड़े हुए लोगों को अपने भाई

और बहनों के रूप में लेने के उनके प्रयासों पर, और विभिन्न सम्प्रदायों–समुदायों वगैरह में मैत्री बनाए रखने की उनकी कोशिश पर, जरूरत से ज्यादा जोर देते रहे हैं। हमने उनके इन आदर्शों और प्रयासों को ही उनके दृष्टिकोण और दर्शन का सार समझ लिया है। गांधी जी के शब्दों और उनके प्रयासों को हम इतने यांत्रिक रूप से लेते रहे हैं कि, उनके जीवन काल में ही, उनके कुछ समृद्ध भक्तजन यह मानने लगे थे कि उनके पास उन दिनों नई–नई आ रही दौलत का स्रोत महात्मा गांधी की आज्ञा का पालन करते हुए प्रतिदिन चरखे पर रुई की सात पूनियाँ कातने भर में ही था।

मैं, गांधीजी के आश्रमों और दूसरे संस्थानों में हो रहे काम को नीचा नहीं दिखाना चाहता। भारत में आज जो स्थिति व्याप्त है, उसमें आश्रमों के काम का नैतिक और पार्थिव महत्व है। लेकिन आश्रमों का जीवन और वहां होने वाले काम भारतीय समाज के पुनर्निर्माण के लिए आदर्श नहीं बन सकते। इन आश्रमों को आदर्श मानने का मतलब आज की वस्तुस्थिति से पूरी तरह आँखें चुराना होगा।

मूल तत्व हमसे कहीं छूट गया है, शायद कुछ उसी तरह जैसे कोई आधुनिक पढ़ा–लिखा प्रगतिशील युवा यांत्रिक सोच और प्रगतिशील मुहावरों के बीच यह भूल जाता है कि प्रगतिशील विचारों के प्रति उसके झुकाव के पीछे मूल उद्देश्य क्या था। ऐसे ही एक क्रांतिकारी प्रगतिशील व्यक्ति ने पिछले दिनों एक ब्रिटिश समाचार पत्र में गांधीजी को निम्न शब्दों में प्रस्तुत करने की धृष्टता की थी। गांधीजी पर लिखी गई एक नई किताब की समीक्षा करते हुए उसने लिखा, "गांधी का वास्तविक महत्व इस बात में है कि वे भारत के किसानों को जागृत करने में सफल रहे और साथ ही उनकी सामाजिक चेतना को भ्रष्ट करने में। इस विरोधाभास से ही गांधी के कई खब्ती कार्यों को समझा जा सकता है। वास्तव में हम गांधी की पूजा में जलायी धूप–बत्तियों के धुएं को हटाकर देख सकें तो गांधी जी का सही रूप साफ दिखाई देता है; वे विक्टोरियन उदारवाद और भारतीय आध्यात्मिकता की संकर संतान थे।"

गांधी जी के बारे में इस तरह के शब्द भारत में ही नहीं अधिकतर दूसरे देशों में भी शायद नहीं बरते गए। आम तौर पर लोगों को इस तरह के शब्द अटपटे और अक्षम्य गाली–गलौच जैसे लगते होंगे। लेकिन गांधीजी के बारे में, आधुनिक गांधीवादियों के विचार भी, मूलतः ऊपर दिए गए विचारों से बहुत भिन्न नहीं हैं, भले ही उन्हें पूजा–अर्चना वाली भाषा में रखा जाता हो। हम में से अधिकतर लोग या तो महात्मा गांधी के नाम पर अपनी किसी निजी सनक में फंस कर रह गये हैं या फिर कभी–कभार सड़कों की सफाई करने, खादी पहनने या बिना समझे बूझे गांधीजी के नाम पर कोई भजन, प्रार्थना इत्यादि करने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। यह प्रार्थना १९४४ तक मानक गांधीवादी प्रार्थना के रूप में प्रतिष्ठित हो गई थी, लेकिन बिना किसी आत्म चिन्तन के इसे दोहराते रहने पर तो यह शब्दों के अर्थहीन जोड़–तोड़ से ज्यादा महत्त्व नहीं रखती।



कुछ साल पहले एक जाने–पहचाने देश प्रेमी ने खादी और ग्रामोद्योग के क्षेत्र में काम करने वाले तमिलनाडु के एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय नेता से पूछा था कि तमिलनाडु में पुराने देसी चरखे को बिल्कुल ही भुला कैसे दिया गया है। जवाब था कि उस पुराने चरखे पर कते सूत का हिसाब रखने के लिए बीस गुना ज्यादा पन्ने इस्तेमाल करने पड़ते थे। परन्तु चरखे पर गांधीजी जो इतना जोर देते थे उसके मूल में तो यही था कि जितने ज्यादा–से–ज्यादा लोगों को हो सके उनको काम मिले; हिसाब–किताब रखने के काम को आसान बनाने के लिए तो गांधीजी ने चरखे की बात शुरू नहीं की थी। एक अन्य गांधीवादी कार्यकर्ता ने जब पूछा कि तमिलनाडु में ग्रामोद्योग से बना साबुन इतने सस्ते भाव पर कैसे मिल जाता है? कहीं ऐसा तो नहीं कि बाजार में भाव कम रखने के लिए इस साबुन में वनस्पति तेलों की जगह चरबी का इस्तेमाल होता है? जवाब मिला था कि – 'भई! इस तरह के प्रश्न पूछने का क्या फायदा है?'

१९०९ में 'हिन्द स्वराज' के पहली बार छपने के तुरंत बाद गांधीजी से किसी ने पूछा था कि वे पश्चिम से इतनी घृणा क्यों करते हैं। उन्होंने जवाब दिया था कि यह प्रश्नकर्ता का वहम है। यह वहम लोगों के दिमाग में अभी तक है, चाहे उनकी अद्वितीय सफलता के चलते सार्वजनिक रूप से यह सवाल अब अक्सर नहीं उठाया जाता। गांधीजी का यह कहना कि वे पश्चिम के प्रति कोई द्वेष नहीं रखते, ठीक ही था। लेकिन लगता है कि पश्चिमी सभ्यता के प्रति उनके मन में घोर जुगुप्सा थी। जिस क्रूर तरीके से पश्चिमी सभ्यता अपने ही लोगों के साथ १९वीं सदी और २०वीं सदी के शुरू में पेश आती रही है, उससे खीज पैदा होना किसी के लिए भी स्वाभाविक ही है। गांधीजी ब्रिटेन द्वारा भारत और दूसरे जीते हुए देशों के लोगों पर ढाए गए जुल्मों से ही सिर्फ दुःखी नहीं थे, पश्चिमी सभ्यता से उन्हें सिर्फ एक पराजित भारतीय के रूप में ही घिन नहीं थी, बल्कि वे एक मानव होने के नाते ही इस सभ्यता को असहनीय मानते थे। सारी मानवता के सामने पश्चिमी सभ्यता से उत्पन्न खतरे को देखकर ही वे 'हिंद स्वराज' लिखने और आधुनिक यूरोपीय और भारतीय सभ्यता में मूलभूत अंतर को स्पष्ट करने के लिए मजबूर हुए थे।

आधुनिक पश्चिमी सभ्यता के बारे में उनकी यह समझ शायद १८९० के आसपास

ब्रिटेन में बिताए अपने शुरू के दिनों में ही बन गई थी। बाद में गोरों के उपनिवेश दक्षिण अफ्रीका में अपने लंबे प्रवास के दौरान उनकी अपनी इस समझ की पुष्टि हुई। पश्चिमी सभ्यता की इस मूल प्रवृत्ति को समझने के बाद गांधीजी में पश्चिम के सामान्य व्यक्ति के प्रति एक गहरी संवेदना उपजी थी और लगता है इसी संवेदना की वजह से गांधी जी पश्चिम के शासक वर्ग के अनेक ऐसे लोगों से अंतरंग मैत्री बना पाए थे जो खुद भी पश्चिमी सभ्यता की इस मूल प्रवृत्ति को समझते थे। शासक वर्ग के ये लोग, भारत और दूसरे गुलाम देशों की स्वतंत्रता के मामले में, हालांकि हमेशा गांधी जी के विरोध में रहे लेकिन गांधी जी की पश्चिमी सभ्यता के बारे में गहन समझ और गहरी संवेदना को देखते हुए उन्हें उनकी ईमानदारी और उनके उद्देश्यों के औचित्य को स्वीकारना पड़ा। इस समझ और संवेदना का ही यह नतीजा था कि जब १९३१ में गांधी जी ब्रिटेन गए तो लंकाशायर और दूसरे शहरों में उन्हें क्रुद्ध भीड़ के बजाय हर्ष से उनका अभिवादन करते हुए लोग ही मिले। इसके बावजूद कि उन दिनों ब्रिटिश कपड़ा उद्योग संकट में पड़ा हुआ था और बहुत हद तक इस संकट का कारण भारत में गांधी जी के आह्वान पर किया जा रहा विदेशी कपड़े का बहिष्कार भी था।

आजकल गांधीवादी दर्शन पर विश्वविद्यालयों में विशेष विभाग और विशेष पीठ वगैरह बैठाने का रिवाज चल निकला है। महात्मा गांधी के नाम पर कुछ विद्या—संस्थान और शोध केन्द्र भी खोले गए हैं। अपने कायदे—कानूनों के मुताबिक और अपने आसपास के वातावरण से संगति बैठाकर ये संस्थान अगर ठीक—ठाक चल भी पाएँ तो भी इनसे कुछ अलग निकल पायेगा, ऐसी उम्मीद नहीं की जा सकती। बौद्धिक बांझपन का जो माहौल आजकल बना हुआ है, उसमें कोई भी संस्थान भी कुछ बहुत नया नहीं कर सकता। फिर गांधीवादी संस्थानों की जिस तरह की व्यवस्था बनाई गई है, उसके चलते तो अच्छे माहौल में भी वे शायद ही कोई महत्त्वपूर्ण काम कर पाते। असल में तो गांधीजी के विचारों, दृष्टिकोण और शब्दों का विशद विश्लेषण होना चाहिए था और फिर इनका कला, समाजशास्त्र और मानविकी के विभिन्न पाठ्यक्रमों में समायोजन होना चाहिए था। खेद की बात है कि इस दिशा में अभी तक कोई प्रयास नहीं हो पाया है। शायद जब तक गांधी जी के सम्पूर्ण वांड्मय का प्रकाशन नहीं हो जाता, तब तक ऐसा कोई प्रयास शुरू भी नहीं किया जा सकता था।

अब तो वांड्मय छप चुका है। इसमें चाहे कुछ कमियाँ रह गई हों और ये अपूर्ण हों, फिर भी अब भारतीय राज्य और हमारे बौद्धिक और शैक्षणिक समाज की यह जिम्मेदारी





बनती है कि महात्मा गांधी पर कम से कम उतना ध्यान तो दिया ही जाये जितना पश्चिमी दार्शनिकों, विज्ञान के दर्शन, राजनीति शास्त्र, मनोवैज्ञानिकों, राजनीतिक—विश्लेषकों अर्थशास्त्रियों आदि पर दिया जाता है। यह सम्भव है कि महात्मा गांधी के विचार आधुनिक विद्वत्ता की कसौटी पर खरे न उतर पाएँ। लेकिन गांधीजी अपने पूरे जीवन भर सत्य के प्रति निष्ठा पर जोर देते रहे। अब, अगर विद्वत—समाज यह पाता है कि गांधीजी के विचारों और कार्यों का कोई स्थायी महत्व नहीं था, वे कार्य और विचार सिर्फ उस समय के संदर्भ में ही महत्वपूर्ण थे और उस संदर्भ के बाहर उनका कोई अर्थ नहीं है, तो इस सत्य को भी उजागर करके विद्वत् समाज गांधीजी की स्मृति में कुछ भला काम ही करेगा।

हमें गांधीजी के विचार सिर्फ तात्कालिक महत्त्व के दिखाई दें या उनमें सार्वदेशिक, सार्वकालिक सत्य की कुछ झलक दिखाई दे, दोनों ही हालात में उन्हें समझने के लिए हमें उनके दृष्टिकोण और दर्शन के मूल तक तो पहुंचना ही होगा। गांधीजी के मूल सत्त्व की खोज के प्रयासों में भारतीय विद्वत् समाज को अपनी विद्वता के लिए एक मजबूत देसी आधार तो मिल ही जाएगा जिस पर खड़े होकर दूसरी सभ्यताओं के साथ विचारों का ऐसा आदान—प्रदान हो सकेगा जिससे सभी का लाभ होगा।

◆◆◆

# भारतीय स्वतन्त्रता – स्वतन्त्रता संग्राम की विजय या अंग्रेजों की देन?

(भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली की २७ वर्ष पुरानी परियोजना 'टूवर्ड्स फ्रीडम – १९३७–४७' को लेकर उठे विवाद पर समाचार पत्रों में जब सन् २००० में बहुत चर्चा हो रही थी, तब इस लेख में धर्मपाल जी ने इस विवाद को एक नई दृष्टि से देखा।)

पिछले डेढ़–दो वर्षो के दौरान भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद के समाचार पत्रों में, विशेषकर अंग्रेजी के समाचार पत्रों में, अत्यधिक चर्चा रही। यह चर्चा कुछ तो अधिकारों के मुद्‌दों व कुछ धन के गलत इस्तेमाल की बातों को लेकर हुई। लेकिन वर्तमान विवाद, परिषद की २७ वर्ष पुरानी "स्वतंत्रता की ओर (१९३७–१९४७)" नामक परियोजना को लेकर है।

परिषद को इस २७ वर्ष पुरानी परियोजना के अन्तर्गत, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम से संबधित सन् १९३६ से १९४७ के ऐतिहासिक दस्तावेजों को संकलित कर १२–१४ खण्डों में प्रकाशित करना था। ऐसा कहा जाता है कि इस परियोजना में अब तक ४–६ करोड़ रुपये खर्च हो चुके हैं। परन्तु इन २७ वर्षो में अभी तक मात्र दो ही खण्ड प्रकाशित हुए हैं। यह परियोजना यदि सन् १९८० तक भी पूरी हो जाती, तब भी इसका कोई महत्व रहता। अब तो यह सिर्फ कागज काले करने जैसा काम ही रह गया प्रतीत होता है।

एक भारतीय की हैसियत से और परिषद का सदस्य होने के नाते भी (पिछले १५ सालों में परिषद का सदस्य होने का यह मेरा दूसरा मौका है) मेरा उन घटनाओं से वास्ता

*(यह लेख फरवरी २००० में लिखा गया था)*





रहा है जिनका कि १९४७ में मिली हमारी स्वतंत्रता से सम्बन्ध रहा। जहाँ हममें से अधिकांश लोगों ने भारत की स्वतन्त्रता को भारतीय विजय के रूप में देखा, वहीं अंग्रेजों ने इसे ब्रिटेन से भारत को सत्ता हस्तांतरण मात्र होना ही माना। बाद में, १९६० से १९८० के समय में अंग्रेजों ने अपने दृष्टिकोण को प्रमाणित करने के उद्देश्य से, १९४२ से लेकर अगस्त १९४७ तक के ऐतिहासिक दस्तावेजों को, १२ बड़े–बड़े खण्डों में "भारत : सत्ता का हस्तांतरण १९४२–१९४७" नामक ग्रंथमाला में प्रकाशित किया। जैसे ही इस ग्रंथ के तीन–चार खण्ड सामने आये, तो उस समय नव गठित 'भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद' ने अंग्रेजों के इस प्रस्तुतीकरण पर आपत्ति उठायी और १९७३–७४ में यह निर्णय लिया कि वह इसके प्रत्युत्तर में दस्तावेजी प्रमाणों के साथ स्वतंत्रता संग्राम से जुड़ी घटनाओं का अलग ढंग से प्रस्तुतीकरण करेगी। जैसा कि स्पष्ट है कि इस निर्णय को लिये २७ वर्ष हो चुके हैं लेकिन अभी तक मात्र दो ही खण्ड प्रकाशित हुये हैं। जैसा कि अक्सर हमारे देश में होता है कि हम बेमतलब के ऊल–जलूल वाद–विवाद में पड़ जाते हैं और समयबद्धता एवं समय की प्रासंगिकता का ख्याल नहीं रखते, वही इस काम के साथ भी हुआ। यदि यह सारा कार्य १९८० के दशक के प्रारम्भिक वर्षो तक भी पूरा हो जाता, तो भी इसका कोई महत्त्व था। अब तो इतने समय बीतने के बाद इसका वह महत्व नहीं रहा है।

भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद का गठन सन् १९७२ में किया गया था। उस समय के वातावरण के अनुसार इस परिषद के अध्यक्ष व अधिकांश सदस्य प्रगतिशील, मार्क्सवादी व कम्युनिस्ट मान्यताओं के थे। ये सभी विभिन्न विश्वविद्यालयों के विद्वान थे और १९७२ से १९९८ तक भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद में अधिकांशत: इन्हीं लोगों का बोल–बोला रहा। वर्ष १९९८ के दौरान जब केन्द्र में भारतीय जनता पार्टी और अन्य दलों की मिलीजुली सरकार बनी, तब नयी परिषद बनाते वक्त इसमें व्यापक फेरबदल किया गया। इसमें नये सदस्य शामिल किये गये और आज से कुछ महीने पहले अध्यक्ष पद पर भी नई नियुक्ति हुई। यह तो माना ही जा सकता है कि इन नये सदस्यों में से अधिकांश तो परिषद के पूर्व कार्य से असन्तुष्ट हैं और उनमें से कुछ सदस्य भारतीय इतिहास के संदर्भ में भारतीय जनता पार्टी के विचारों के अधिक करीब हैं।

अंग्रेजों द्वारा प्रकाशित प्रथम तीन खण्डों को मैंने १९७२ में देखा था। उनमें जिस बात ने मेरा अत्यधिक ध्यान आकृष्ट किया, वह थी संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट की अगस्त १९४२ के दौरान ब्रिटिश राजदूत को दी गई सलाह। राष्ट्रपति

रूज़वेल्ट ने ब्रिटिश राजदूत को कहा कि वह भारत के बारे में अधिक नहीं कहना चाहते क्योंकि इससे ब्रिटिश सरकार नाराज होती है। लेकिन फिर भी वह यह सलाह अवश्य देंगे कि ब्रिटेन भारत के साथ कुछ इस तरह का व्यवहार करे जिससे कि भारत भविष्य में "पश्चिम की छत्रछाया" में बना रहे। ब्रिटिश लोग भले ही भारत एवं ब्रिटेन के मामलों में संयुक्त राज्य अमेरिका की सलाह व हस्तक्षेप को अस्वीकार करते रहे हों, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रपति फ्रैंक्लिन रूज़वेल्ट की इस सलाह को उन्होंने पूर्णरूपेण स्वीकार किया। इससे पहले जनवरी १९४२ में उस समय ब्रिटेन के उपप्रधानमंत्री क्लेमेंट ऐटली ने मंत्रिमंडल की एक बैठक में इस बात पर गर्व जताया था कि ब्रिटेन ने भारत पर अपने दो सौ वर्षों के शासन के दौरान उसको तमाम तरह की ढांचागत व्यवस्थाओं का उपहार दिया और सभ्य बनाया है। वे इस बात के लिये आशान्वित थे कि भविष्य के भारत में भी ये सारी व्यवस्थायें उसी रूप में चलती रहेंगी।

लेकिन यह केवल राष्ट्रपति रूज़वेल्ट या उपप्रधानमंत्री ऐटली ही नहीं थे जो इस विशिष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने की इच्छा रखते थे। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने भी जनवरी १९२८ में गांधीजी के समक्ष घोषणा की थी कि "मुझे लगता है कि पश्चिमी या कि औद्योगिक सभ्यता को तो भारत को जीतना ही है, भले ही इसमें कुछ परिवर्तन और अनुकूलन करने पड़ें लेकिन कुछ भी हो, मुख्य रूप से औद्यौगिक सभ्यता ही भारत का आधार होगी।" निश्चित ही उस समय, १९४६–४७ में एवं उसके बाद, हजारों ऐसे भारतीय रहे होंगे – सत्ता व शक्ति प्रतिष्ठानों में – जो पंडित नेहरू की इस मान्यता से सहमत रहे होंगे।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि हमारे देश के अधिकांश लोग अलग–अलग रूप में महात्मा गांधी के नेतृत्व में चल रहे स्वतंत्रता के संघर्ष से जुड़े हुये थे। कुछ लोग स्वतंत्रता की लड़ाई अन्य तरीकों से लड़ रहे थे। इनके कारण, विशेषकर १९४५ के बाद, अंग्रेजों का भारत पर शासन करना असम्भव हो गया। जून १९४६ में ब्रिटिश सैनिक तंत्र के प्रमुखों ने भी यह स्वीकार किया था कि यूरोपियन लोगों की बहुत बड़ी सेना के बिना भारत पर अब शासन करना असम्भव है। कुछ अन्य कारक भी थे, जिन्होंने ब्रिटेन को भारत के साथ शांति स्थापित करने के लिए बाध्य किया। परन्तु जब १९४५ के बाद भारत की स्वतंत्रता को लेकर वास्तविक बातचीत शुरू हुई, तो भारत के पश्चिमी मानसिकता से प्रभावित उच्च वर्ग ने, पश्चिमी सहयोग तथा समर्थन से, भारत को 'पश्चिम की छत्रछाया' में बनाये रखने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस सब का अंतिम परिणाम वही हुआ जिसकी अंग्रेज





इच्छा रखते थे एवं दावा करते थे – जिसका अहसास हमें पिछले दशकों में हो रहा है – कि भारत में मात्र 'सत्ता का हस्तांतरण' हुआ है, न कि भारत ने लड़ कर स्वतंत्रता प्राप्त की है। किस तरह हम धीरे–धीरे अपने प्रारम्भिक उद्देश्य से ठीक विपरीत बात पर सहमत होते गये, इसकी गहराई से जाँच पड़ताल एवं खोज करने की आवश्यकता है। भारत के भविष्य को लेकर हमारी कल्पना तथा आत्मविश्वास के विखण्डित होने के संदर्भ में इस तरह की खोज के परिणाम अत्यधिक महत्वपूर्ण होंगे।

गत आधी शताब्दी से हमारे राजनीतिज्ञ, प्रशासक और बुद्धिजीवी, सभी इस विरासत में मिली 'सत्ता हस्तांतरण' की व्यवस्थाओं के पाये बन गये हैं। इसके चलते वास्तव में आज हमारी यह दशा हो गयी है कि हम इसी इंतजार में रहते हैं कि कोई शक्तिशाली पश्चिमी दुनिया से आये और हमारे प्रति सहानुभूति व्यक्त करे, हमारी पीठ थपथपाये और हमारे लगातार बढ़ते जा रहे भीख के कटोरों को भरता रहे। भारत के सामान्य लोग जो स्वतंत्रता संग्राम की रीढ़ थे, उन्हें हमने १९४७ के बाद से, उनके खेतों–खलियानों में, कल–कारखानों में वापस धकेल दिया और उन्हें कठिन परिश्रम करने का आह्वान करके यह आश्वासन दिया कि भारत की सार–संभाल की जिम्मेदारी हमारी है, उनकी नहीं।

अपने आप को इस देश का मालिक बना लेने के बाद हम पश्चिम के शक्तिशाली लोगों के इंतजार में पलक पांवड़े बिछाये खड़े रहते हैं – जैसे आज हम दुनिया के सबसे शक्तिशाली राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति का स्वागत करने के लिये खड़े हैं। हम इस इंतजार में हैं कि कब हमें उसकी सहानुभूति मिलेगी, उससे ज्ञान प्राप्त होगा तथा वह दया दिखा कर हमें कुछ दे जायेगा और उसके बलबूते पर हम अपनी समस्याओं का हल ढूँढ़ लेंगे, इत्यादि। या तो यह स्थिति रुकनी चाहिये या फिर हम सबको चुल्लूभर पानी में डूब मरना चाहिये। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि भारत की (कम–से–कम) ७५ प्रतिशत जनता को इन सरीखे लोगों के आने–जाने तथा इस तरह के आडम्बरपूर्ण तमाशों में जरा भी रुचि नहीं है। न ही उन्हें उन लोगों को मिली इस तरह की भीख से कोई मतलब है जो भारतीय समस्याओं का हल पश्चिम के रास्ते चलकर प्राप्त करने का दिवास्वप्न देखते हैं और वास्तव में राष्ट्रपति रूज़वेल्ट द्वारा घोषित पश्चिम की 'छत्रछाया' में रह रहे हैं।

यह स्पष्ट है कि जिस उद्देश्य से "स्वतंत्रता की ओर" परियोजना का आरंभ १९७३–७४ में किया गया था, वह उद्देश्य तो वर्षों पहले ही समाप्त हो गया है। भारतीय स्वतंत्रता–संघर्ष में ब्रिटिश दृष्टिकोण पर आपत्ति उठाना अब कोई मायने नहीं रखता। वर्तमान में हमारे सामने अन्य विविध गम्भीर प्रश्न उत्पन्न हो गये हैं, जिन पर तत्काल

अध्ययन और विश्लेषण की आवश्यकता है। लगभग एक वर्ष पूर्व, भारतीय अनुसंधान परिषद की एक बैठक के समय मैने कुछ सदस्यों के साथ, बैठक के बाहर अनौपचारिक बातचीत में, यह सुझाव दिया था कि इस परियोजना को शीघ्र ही समाप्त कर देना चाहिये क्योंकि अब यह किसी भी उद्देश्य को पूरा नहीं करती है। इस परियोजना से जुड़े विभिन्न विद्धानों के कार्यों को – उनके दृष्टिकोण के अनुसार – अच्छा ही माना जाना चाहिये, लेकिन चूंकि जिस उद्देश्य को लेकर यह परियोजना शुरू हुई थी, वह उद्देश्य ही अब शेष नहीं रहा है, इसलिये अब यह अच्छा ही होगा कि इन ३००००–४०००० पृष्ठों के दस्तावेजों को १०–१२ बृहद् खण्डों में प्रकाशित करने के बजाय, भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद के अभिलेखागार में रख दिया जाये। किसी के पास न तो इतना समय ही होगा और न इतनी शक्ति ही कि वह इनको पढ़ सके; यहाँ तक कि इनकी समीक्षा करना भी सम्भव नहीं होगा। लेकिन उस समय मैने जो कुछ कहा था, उस पर ध्यान नहीं दिया गया। आज स्थितियों में बदलाव को देखते हुए मेरा यह सुझाव है कि इस परियोजना को निश्चित रूप से अब बंद कर देना चाहिये।

# अंग्रेजी शासन और तंत्र–व्यवस्था

सन् १७५० से भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करते ही, अंग्रेजों ने यहाँ अपनी जरूरत के मुताबिक व्यवस्था को बदलना शुरू कर दिया था। इसमें सबसे पहला काम तो अंग्रेज अफसरों व सैनिकों के मातहत बढ़ती हुई अंग्रेजी सेना में भारतीयों को भर्ती करना था। दूसरा, इससे भी अधिक महत्त्व का काम था भारत के खुशहाल खेतिहरों व कारीगरों को अलग–अलग तरीकों से अपने अधीन करना और यहाँ की खेती की उपज के आधे से अधिक भाग कर (टैक्स) बन्दूक व तलवार के जोर पर वसूल करना; इसी तरह से कारीगरों से जबरदस्ती काम करवाना और उनके उद्योगों से बनी वस्तुओं की कम से कम कीमत देना। आरम्भ में तो ऐसी कार्यवाही मद्रास व बंगाल के क्षेत्र में ही रही, लेकिन सन् १८०० के बाद अंग्रेजों ने धीरे–धीरे सारे भारत में ऐसा करना शुरू कर दिया। इसी प्रकार के बदलाव अंग्रेजों के अधीन आये हुए भारतीय क्षेत्रों में भी होने लगे – वहाँ भी नये तंत्र स्थापित होने लगे।

भारतीय व्यवस्थाओं के अनुसार हर क्षेत्र की अपनी स्थानीय सैनिक व्यवस्थाएँ थीं और हर ग्राम व नगर में अपनी स्थानीय पुलिस व्यवस्था भी थी। सेना और पुलिस स्थानीय व्यवस्थाओं के अधीन होती थीं। इसी तरह से जमीन का हिसाब–किताब, उसकी रजिस्ट्री या उनमें आवश्यक तब्दीली करने वाले लोग भी स्थानीय व्यवस्थाओं के मातहत रहते थे। जमीन के हिसाब–किताब से संबंधित लोगों को दक्षिण भारत में कनकपिल्ले और उत्तर में लेखपाल, पटवारी इत्यादि कहा जाता था। इसी तरह से गांव के स्तर पर बढ़ई, लोहार,

*(यह लेख धर्मपाल जी द्वारा अक्टूबर १९९९ में संशोधित किया गया था)*

धोबी, कुम्हार, सिंचाई के साधनों की मरम्मत व व्यवस्था करने वाले, पंचांग और तिथि, शुभ दिन इत्यादि बताने वाले, मंदिरों के पुजारी, देवदासी, गायक और दूसरे कर्मचारी गांव और नगर के मौहल्लों से संबंधित होते थे। गांव में इन सब का कृषि की उपज में हिस्सा होता था। अंग्रेजी शासन ने आते ही सेना, पुलिस, कनकपिल्ले, सिंचाई के साधनों की मरम्मत व काम करने वालों इत्यादि को इस व्यवस्था से पूरी तरह से अलग कर दिया। पुरानी व्यवस्था में इन लोगों को जो मिलता था वह अब मिलना बन्द हो गया क्योंकि ब्रिटिश सरकार अब उसे कर के रूप में लेने लगी। इनमें से कुछ लोगों को तो ब्रिटिश सरकार ने अपना नौकर बना दिया परन्तु बाकी बेकार हो गये। अंग्रेजों से पहले भारत में, दक्षिण और उत्तर दोनों में, यह प्रथा थी कि किसी का अगर कुछ खो जाता था और पुलिस अगर खोई हुई चीज को तलाश करने में सफल नहीं होती थी, तो पुलिस को जिस व्यक्ति का सामान खोया होता था, उसे हर्जाना देना पड़ता था। अंग्रेजी व्यवस्था ने भारतीय पुलिस व्यवस्था को खत्म कर दिया और उसकी जगह नई केन्द्रीयकृत व्यवस्था लागू की। ऐसा करते ही हर्जाने की बात तो पूरी तरह से समाप्त ही हो गयी। उल्टे कुछ दिनों के बाद ऐसा होने लगा कि अंग्रेजी पुलिस, जिनका कुछ खो जाता था और जो शिकायत दर्ज करवाते थे, उन्हीं के साथ मारपीट करने लगती थी। इसके साथ–साथ ही जमीन का लगान अंग्रेजी व्यवस्था ने तिगुना–चौगुना बढ़ा दिया और सन् १७९० के आसपास जमीन की मिल्कियत कुछ थोड़े से लोगों को दे दी, जिन्हें जमींदार कहा गया। वैसे इंग्लैंड में ७०० वर्षों से जमींदार होते रहे थे, लेकिन ये जमींदार किसान से कुल फसल का ५०–८० प्रतिशत तक लगान के रूप में ले लेते थे, सरकार को कुल फसल का लगभग १० प्रतिशत देते थे। शेष अपने पास रखते थे। लेकिन बंगाल इत्यादि में जो जमींदार अंग्रेजों ने बनाये, वे किसानों से उनकी उपज का करीब ५० प्रतिशत वसूल करते थे और उसमें से ९० प्रतिशत ब्रिटिश सरकार को कर के रूप में देते थे। उनके अपने पास किसान से वसूल किये गए लगान का १० प्रतिशत ही बचता था।

किसान से लगान वसूली की दर में तिगुनी–चौगुनी वृद्धि अंग्रेजों के जमाने में हुई, इसलिए इतना ऊँचा कर वसूल करना असंभव–सा होता गया। इसका एक और कारण भी था। भारतीय व्यवस्था में लगान, जिसकी दर वैसे भी काफी कम थी, अनाज के रूप में ही लिया जाता था। परन्तु अंग्रेजों ने बढ़ते हुए लगान को, अनाज के बजाय पैसे में लेना शुरू किया। पिछले १० वर्षों की फसल का दाम इत्यादि निकाल कर भूमिकर पैसे के रूप में निर्धारित किया गया। अंग्रेजी व्यवस्था के आने से जो गरीबी में भारी बढ़ोत्तरी हुई, उससे



फसल के दाम गिर गये, इसका असर भी किसान पर दोतरफा हुआ क्योंकि उसे लगान अब फसल के बजाय पैसे में देना होता था। मन्दी के कारण फसल की कीमत कम होने की वजह से वास्तविक लगान की दर ८० से ९० प्रतिशत तक होने लगी, यानी किसान के पास उपज का सिर्फ १० से २० प्रतिशत ही बचता था। इस वजह से लगान वसूली में मुश्किलें आने लगीं। इसलिए अंग्रेजी तंत्र ने सन् १७९२ में फैसला किया और जमींदार को यह हक दिया कि वह जब चाहे खेतिहर को जमीन से बेदखल कर सकता है। इससे पहले भारत में कभी भी खेतिहर को इस तरह से उसकी जमीन से बेदखल करने का रिवाज नहीं था। लेकिन अंग्रेजी अधिकारियों का तर्क था कि अगर इंग्लैण्ड में खेतिहर को वहाँ का जमींदार निकाल सकता है, तो भारत में ऐसा अधिकार और भी जरूरी है, क्योंकि यहां लगान की दर इंग्लैण्ड से कई गुना ज्यादा है।

क्योंकि इतना बड़ा लगान वसूल करना आसान नहीं रहा होगा, इसलिए सेना की टुकड़ियों को, जिन्हें रैवन्यू बॅटालियन कहा गया, कर वसूल करने के काम में लगाया गया। इसका परिणाम यह भी हुआ कि सन् १८०५–१८०६ तक बंगाल–बिहार के अधिकांश जमींदार दीवालिया हो गये। इसके बाद इन जमींदारियों की नीलामियाँ शुरू हुई और साहूकार, फौजी ठेकेदार, राजा इत्यादि, नये जमींदार बने। यह सिलसिला अगले ४०–५० वर्ष तक चलता रहा और इस दौरान भारत की जनता की एक बड़ी संख्या भुखमरी, अकाल इत्यादि से सन् १९०० और उसके बाद तक मरती रही। कविवर मैथिलीशरण गुप्त के अनुसार, "कुल दुनिया की लड़ाइयों में सौ वर्ष के अन्दर (सन् १७९३ से सन् १९०० तक) सिर्फ पचास लाख आदमी मारे गये थे, पर हमारे हिन्दुस्तान के केवल दस वर्ष में (सन् १८९१ से सन् १९०१ तक), भूख, अकाल के मारे एक करोड़ नब्बे लाख मनुष्यों ने प्राण त्याग दिये" – (हिन्दी ग्रन्थमाला, मई सन् १९०८ पृष्ट ९ और 'भारत भारती', संवत् १९६९, पृष्ठ ८७)। तब मैथिलीशरण जी २६ वर्ष के थे। वे शायद राजेन्द्र प्रसाद व जवाहर लाल नेहरू की उम्र के तब रहे होंगे, हो सकता है कि एक–दो वर्ष बड़े भी हों। इससे पहले, सन् १८७० के आसपास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कहा था कि अंग्रेजों ने भारतवासियों से सब कुछ ले लिया, लेकिन उन्हें भीख मांगना अवश्य सिखा दिया है। महात्मा गांधी जनवरी सन् १९१५ में भारत लौटे थे। ऐसा लगता है कि मैथिलीशरण जी की तरह बहुत से भारतीय गांधीजी के आने की तीव्र प्रतीक्षा कर रहे थे। जब महात्मा गांधी ९ जनवरी १९१५ को जहाज से बम्बई पहुँचे तब उनका भव्य स्वागत हुआ। लेकिन ऐसा स्वागत गांधी जी को कुछ अच्छा नहीं लगा। उनके आने के तीन–चार दिनों के अन्दर

भारत के कई प्रमुख दैनिक समाचार पत्रों में गांधीजी के आने को लेकर लम्बे–लम्बे संपादकीय लिखे गये – मद्रास के 'हिन्दू' में, और इलाहाबाद के 'लीडर' में भी। उन्हें पढ़ने से ऐसा लगता है जैसे कि किसी अवतार की प्रतीक्षा हो रही थी। यह वर्णन कुछ उसी तरह का है जैसा कि गौतम बुद्ध के जन्म का वर्णन अश्वघोष के 'बुद्ध चरित' में किया गया है, कुछ ललित विस्तार से।

अगर यह सही है कि सन् १८९१ से सन् १९०१ तक भारत में भुखमरी के कारण एक करोड़ नब्बे लाख लोग मर गये, तो अंग्रेजी शासन के शुरू से उसके अन्त तक भारत में २०–२५ करोड़ जन भुखमरी से मरे होंगे, ऐसा माना जा सकता है। इसी तरह करोड़ों की संख्या में गाय, बैल, भैंस, बकरी, भेड़ और दूसरे जीव–जन्तु भी मरे होंगे। वन और पेड़–पौधे तो बहुत बड़ी तादाद में नष्ट हुए ही।

इस तरह के शोषण और अत्याचार के कारण भारतीयों में अंग्रेजों से लड़ने की शक्ति नहीं रह गयी। वैसे तो भारत के लोग कभी भी खूँखार व लड़ाकू नहीं रहे, न ही उन्हें न्यायालयों में जाने का चाव ही था। अंग्रेजी राज्य ने उनके खेतों को छीन कर, उद्योगों व घरों को उजाड़ कर, उन्हें न्यायालयों की शरण लेने के लिए एक तरह से बाध्य किया। इन न्यायालयों में असत्य का सहारा लेना आवश्यक–सा हो गया। अंग्रेजों ने जो न्यायालय स्थापित किये उनमें अब तक भी यही बात ज्यादा चलती रही कि भारतीय असत्य ही बोलते हैं। उन्हें असत्य बोलना उनके वकीलों और उनके कर्मचारियों एवं न्यायालयों ने ही सिखाया।

जैसे–जैसे न्यायालय स्थापित हुए, वैसे–वैसे ही अंग्रेजी राज्य में जिलों को चलाने के लिए दूसरे तंत्र भी स्थापित हुए। ताल्लुकों को चलाने के लिए तंत्र बने। प्रदेशों को चलाने के लिए तंत्र बने। भारत को चलाने के लिए तंत्र बने। जितना अंग्रेजों से हो सका, उतना उन्होंने भारत को कस कर रख दिया। लोगों को हिलने–डुलने, सांस लेने तक का मौका नहीं रहा। भय और उसके साथ–साथ गरीबी और मुफलिसी का राज्य छा गया।

फिर भी अंग्रेज कुछ भयभीत ही रहे – विशेषकर भारतीय सैनिकों से। साधारणतः तो अंग्रेज यही मानते थे कि भारतीय सैनिक – जिनकी संख्या सन् १८२०–३० में दो–तीन लाख रही होगी – उनके प्रति वफादार हैं। लेकिन उन्हें यह भी लगता था कि कहीं अगर हवा का बहाव बदल गया और भारतीय सैनिकों को यह लगने लगा कि अंग्रेजों का राज उखड़ने वाला है, तो फिर वे अंग्रेजों के खिलाफ हो जायेंगे। इसी बीच सन् १८२९–३० के वर्षों में यह भी तय किया गया कि अंग्रेजों और दूसरे यूरोपीय लोगों को



भारत में जहाँ–तहाँ, विशेषतः पर्वतों पर, ठंडी जगहों पर बसाया जाये। धीरे–धीरे ऐसी बसावट शुरू भी हुई। इससे पहले भी भारत में सैकड़ों जगह अंग्रेजी सेना की छावनियाँ बनी थीं। सेना के साथ, सेना की सेवा के लिए, उनकी तुलना में पाँच–दस गुना ज्यादा लोग, सेना की सवारी और सामान ढोने के लिए, अन्य आवश्यकताओं के लिए और अन्य घरेलू कामों के लिये एकत्रित किये जाते रहे। इनमें से, आधे से अधिक को, उस समय की अंग्रेजों द्वारा घटाई गयी मजदूरी भी नहीं दी जाती थी और कुछ लोगों को तो एकदम 'बेगार' में ही रखा जाता था। अफसरों व सैनिकों के लिए वैश्यालय भी तभी बने और जैसे–जैसे छावनियों की संख्या बढ़ने लगी, वैसे–वैसे यह सब ठिकाने भी बढ़ने लगे। सन् १८५७–५८ की अंग्रेजों और भारतीयों के बीच की बड़ी लड़ाई के बाद, जिसमें अन्ततः भारतीय हार ही गये, उनके सैकड़ों शहर लूटे गये और उनके पचासों लाख लोगों को वृक्षों पर लटका कर, अलग–अलग तरीकों से, मार दिया गया। इसके बाद अंग्रेजों को यह आवश्यक लगा कि भारत में बड़े पैमाने पर अंग्रेजों और यूरोपियों को बसाने का काम तेजी से आरम्भ किया जाना चाहिये। आज जो ये पहाड़ी शहर देशभर में हैं और अनेक जगह चाय व काफ़ी के बगीचे या दूसरे बड़े व्यापारिक खेती के मैदान असम, बिहार और दक्षिण भारत इत्यादि में बने हैं, ये अधिकांशतः सन् १८६० के इसी अंग्रेजी फैसले के बाद स्थापित हुए।

इसी तरह सैनिकों की छावनियाँ भी और बढ़ाई गयी होंगी। आज शायद यह मानना पड़ेगा कि अंग्रेजों ने भारत में जो यह विस्तृत तंत्र खड़ा किया है, वह सारे देश से जल्दी जाने वाला नहीं है। यह तंत्र कैसे यहाँ से उखड़े, इसके लिए तो हमें काफी सोचना होगा। ऐसे रास्ते निकालने होंगे जिससे हम अपना तंत्र खड़ा कर सकें, जिससे कि भारत की राज्य–व्यवस्था, शिक्षा–व्यवस्था, कृषि, वन, जल के साधन, बड़े और छोटे उद्योग और भारतीयों का सार्वजनिक जीवन, देश के लोगों के मन के अनुसार चल सके। इस तरह के सवाल स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में और पिछले ५३ वर्षों में निश्चय ही हमारे विचारकों व राजनैतिकों के मन में उठे होंगे। सन् १९४६ से सन् १९४९ तक जो संवैधानिक सभा हमारे यहाँ बैठी और जिसमें संविधान के बारे में काफी सोच–विचार और बातचीत हुई, उसमें भी इस तरह के प्रश्न उठे होंगे। उसके बाद भी देश की बिगड़ी स्थिति को सामने रखकर ऐसे प्रश्न उठते ही रहे दीखते हैं। ऐसा कहा जाता है कि अखिल भारतीय कांग्रेस में भी इस तरह के प्रश्न जब तब, गांधीजी के बाद भी, उठते रहे। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने स्वयं शायद कहा था कि उनके पिता जवाहर लाल नेहरू ने बड़ी गलती की कि अंग्रेजों

के बनाये तंत्र को जैसा का तैसा रहने दिया। साधारण लोग और काफी सारे समाजवादी नेता और भारतीय जनता दल के कुछ नेता भी ऐसा कहते रहे हैं। हाल में श्री नरसिंह राव ने, जो पांच वर्ष तक भारत के प्रधानमंत्री रहे, इस तरह के प्रश्नों को फिर से उठाया है, वह भी लंदन में। हम लोग इस पर सोचेंगे और बराबर आग्रह रखेंगे, तो दस–बीस वर्ष में भारत में, अंग्रेजों के बनाये तंत्र को पूर्ण रूप से बदलने का काम तो कर ही सकते हैं। जब ऐसा होगा तभी भारतीय शिक्षा, कृषि–उद्योग, पुलिस, सेना आदि क्षेत्रों के स्वरूप को भी आज के समय के अनुरूप और प्राणवान भारतीय रूप में बनाना सम्भव होगा।

# हमारे अज्ञान की जड़ें कहीं गहरी हैं

समाज और राज्य की अलग–अलग भूमिका और इन दोनों के आपसी संबंध हमेशा दार्शनिक बहस का मुद्‌दा रहे हैं। इस विषय पर पश्चिमी चिंतन बहुत सीमित अनुभूतियों और अवधारणाओं पर टिका हुआ दीखता है। पश्चिमी दर्शन के मूल में या तो किसी समाज के किसी दूसरे द्वारा जीत लिए जाने का कोई ऐतिहासिक तथ्य होता है या यूरोप में प्राचीनकाल से नागरिकों और गुलामों के बीच स्थापित हुए रिश्तों की अवधारणा या फिर यह सिद्धांत कि जिनके हाथों में उत्पादन और विकास के साधन होते हैं, वही राज्य को चलाया करते हैं।

लेकिन भारत में राज्य की कल्पना कुछ अलग अवधारणाओं पर आधारित रही है। महात्मा गांधी जो सामुद्रिक वृत्तों की तरह व्यक्ति को केंद्र में रखकर फैलते हुए राज्य की बात किया करते थे, वह शायद राज्य की ऐतिहासिक भारतीय कल्पना से ही निकली थी। गांधीजी को इस भारतीय कल्पना की सहज अनुभूति ही रही होगी। उन्होंने भारतीय इतिहास में बहुत खोजबीन कर यह सब नहीं निकाला होगा। लेकिन भारत के इतिहास पर आजकल हो रहे शोध से गांधीजी की भारतीय समाज के बारे में सहज समझ की पुष्टि होती ही दिखाई देती है।

दो सदियों के ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय समाज और राज्य के आपसी रिश्ते बिल्कुल छिन्न–भिन्न हो गए। उत्तर और पश्चिम भारत के बहुत सारे हिस्सों में तो राज्य के समाज से अलग पड़ने की प्रक्रिया, इन इलाकों के मुस्लिम शासकों के अधीन आने के

*(यह लेख मई १९८७ में लिखा गया था)*

साथ ही शुरू हो गई थी। बहुत हद तक मुस्लिम शासकों के तौर–तरीके गैर–भारतीय अवधारणाओं पर आधारित थे। मुस्लिम शासित इलाकों में राज्य और समाज के आपसी रिश्तों के टूटने से, दोनों एक दूसरे से अलग होकर, एक दूसरे को किसी तरह झेलते हुए जीते रहे और आखिरकार इस टूटन से समाज और राज्य दोनों ही कमजोर हुए, दोनों का ही विकास अवरुद्ध हुआ। भारत के यूरोप से हारने और भारतीय समाज के यूरोपीय आधिपत्य में आने का बड़ा कारण राज्य और समाज की यही कमजोरी और ओजहीनता रही होगी।

लेकिन भारत पर यूरोप की जीत का असर इससे कहीं ज्यादा गहरा था। यह ठीक है कि यूरोप के लोगों ने हमारी सभ्यता और हमारे लोगों का वैसा विनाश नहीं किया जैसा कि उन्होंने अमेरिका के लोगों और उनकी सभ्यता का किया था। वहाँ की तो पूरी की पूरी सभ्यता और विशाल जनसंख्या खत्म ही कर दी गई। आजकल यह हिसाब लगाया जाता है कि सन् १५०० के आसपास अमेरिका की आबादी दस करोड़ के करीब रही होगी। उस समय यह संख्या सारे यूरोप में जितने लोग रहते थे, उससे ज्यादा बैठती है। अमेरिका की इस सारी आबादी में से कोई भी नहीं बच पाया। भारत में ऐसा नरसंहार नहीं हुआ। लेकिन यूरोप के हाथों भारत की हार के जो नतीजे निकले हैं, वे अमेरिकी हार से कम प्रलयंकारी नहीं दीखते।

यूरोप के अधीन आने पर न सिर्फ भारतीय शिष्ट समाज और आम लोग, एक–दूसरे से बिल्कुल कट गए बल्कि बराबर के लोग भी एक दूसरे से अलग–अलग, छोटे–छोटे टुकड़ों में बँटते गए। हालात ऐसे थे कि किसी तरह जीवन चलाए रखने के लिए समाज के टूटे हुए टुकड़ों को अपने आप में सिमटते जाना पड़ा। असल में, ब्रिटिश प्रशासन की नीतियों के चलते भारत में समाज नाम की चीज का अस्तित्व ही खत्म हो गया। कायरता, दरिद्रता और अव्यवस्था भारत में सभी ओर व्यापने लगी ।

दूसरी तरफ राज्य, समाज के प्रति अपनी सारी जिम्मेदारियाँ छोड़ बैठा। राज्य का न कोई उद्देश्य बचा और न ही उसके काम की कोई दिशा रही थी। नतीजतन लोगों में थोड़ी–सी भी हलचल होने पर राज्य को लगता था कि उन पर बहुत बड़ा खतरा आ खड़ा हुआ है और राज्य किसी भी क्षण चरमरा कर ढह सकता है। ब्रिटिश प्रशासकों ने भारत में जो राज्य स्थापित किया था, उसके इतना कमजोर और क्षणभंगुर होने का डर उनके मन में १८२० के आसपास से समाया रहा हो या कि १८५७–५८ से वे इस बारे में डरते रहे हों या फिर १८९३ में जब देशभर में गौ–हत्या के विरुद्ध आंदोलन फैल रहा था, तब से





उन्हें ऐसा डर लगा हो या १९३०–३१ में नमक सत्याग्रह के दिनों उन्हें लगता हो कि उनका राज्य कभी भी ढह जाएगा। इस सबके दौरान ब्रिटिश शासकों का राज्य की स्थिरता के बारे में आशंकित रहना समझ में आता है। लेकिन यह समझना मुश्किल है कि अंग्रेजों के चले जाने के बाद और स्वतंत्र भारतीय राज्य की स्थापना के बाद भी यह डर कैसे बना रहा कि समाज में किसी भी हलचल से राज्य खतरे में पड़ जाएगा। राज्य की क्षणभंगुरता के बारे में ऐसा ही डर अब भी बना हुआ है। इस डर का मतलब यही हो सकता है कि भारतीय राजतंत्र के मूल में कहीं कोई गंभीर गड़बड़ है।

राज्य, समाज और उसके लोगों का मुख्य उपकरण होता है। इसलिए जब हमें आजादी मिली तो हमारा पहला काम यही होना चाहिए था कि किसी तरह राज्य और समाज के रिश्तों को दोबारा जोड़ा जाए। ऐसा करने का एक देसी तरीका था। इस तरीके पर चलने के लिए हमें राज्य और उसके संस्थानों को ऐसे मूल्यों और नियमों के अनुरूप ढालना चाहिए था, जिन्हें भारतीय लोग समझ सकते और जो उन्हें धर्म पर आधारित दीखते। लेकिन समाज और राज्य के रिश्तों को स्थापित करने का एक दूसरा यूरोपीय रास्ता भी था। यह रास्ता अपनाने के लिए हमें राज्य को इतना सक्षम और ताकतवर बनाना पड़ता कि वह भारतीय लोगों को समझा–बुझा कर, या फिर हिंसा और आतंक बरत कर, उन्हें अपने तौर–तरीके और अपने मूल्यों–मान्यताओं को बदलने पर मजबूर करता। परन्तु सम्भवत: किसी समाज के मूल बाशिंदों को पूरी तरह नष्ट किए बिना, उस समाज के तौर–तरीकों और मूल्य–मान्यताओं को बदलना मुमकिन नहीं हुआ करता।

भारतीय राज्य या ठीक से कहा जाए तो वे लोग जिनके हाथ में भारतीय राज्य की बागडोर आ पहुँची थी, ऊपर के दोनों रास्तों में से किसी को भी चुनने को तैयार नहीं थे। उन्होंने तो निष्क्रियता, निठल्लेपन और आलस का ही रास्ता चुना। वे लोग समाज और लोगों के बारे में सब कुछ भूल कर कुछ इस तरह राज्य को चलाने लगे जैसे कि राज्य का एकमात्र काम सिर्फ अपने को बनाए रखना और किसी तरह राज्य की सेवा में लगे हुए कर्मचारियों एवं अन्य लोगों की देखभाल करते रहना ही हो। जो लोग राज्य की सेवा में लगे हैं, वे भी ज्यादातर अर्थहीन गुलामी में फँसा दिए गए हैं। उन्हें ब्रिटिश विरासत में मिली उबाऊ और निकम्मी सरकारी प्रक्रियाओं को किसी कर्मकांड की तरह दोहराये जाना होता है। ब्रिटिश शासन के दौरान शायद इस कर्मकांड से ब्रिटिश साम्राज्य का कोई महती उद्देश्य पूरा हुआ होता होगा, लेकिन नए स्वतंत्र भारत में तो यह सब भद्दा और अमानवीय ही दिखाई देता है। स्वतंत्र भारत के कर्णधारों को भी, भारतीय लोग और उनके

तौर–तरीके और उनकी रुचि–अरुचि वगैरह सब, राज्य के प्रवाह में अड़चनों के रूप में ही दिखाई देती थीं। राज्य के लिए समाज और उसके लोग, फिजूल सिरदर्द जैसे दिखने लगे। लगता है कि चालीस साल के स्वतंत्र भारतीय राज्य की मुख्य उपलब्धि बस यही है कि यह राज्य बिना किसी भारी दुर्घटना के इतना अरसा निकाल गया। दु:ख, दारिद्रय, अव्यवस्था और निर्दयता सब कुछ अभी भी चारों ओर व्याप्त है और जीवन की गरिमा का कहीं कोई लिहाज नहीं है। इसको समझने के लिए हमारे पास दर्शन, इतिहास और समाजशास्त्र से ढूँढ़ कर लाई गई अनेक दलीलें हैं। कभी हम इसके लिए पूर्व जन्मों के कर्मों को दोषी ठहराते हैं, कभी कार्ल मार्क्स के साथ यह मानकर चलने लगते हैं कि दु:ख और दारिद्रय तो भारतीय समाज में हमेशा ही चले आए हैं और कभी हम यह सोचकर मन बहला लेते हैं कि यह दु:ख तो यूरोपीय तर्ज के समृद्ध–संपन्न औद्योगिक समाज के प्रकट होने के पहले की प्रसव–पीड़ा मात्र है।

हमारी गलती की जड़ें शायद कहीं बहुत गहरे समाई हैं। आजादी के पहले जो सौदेबाजी और समझौते हुए थे, उनका आजादी के बाद जो कुछ हुआ, उस पर गहरा प्रभाव रहा है। ब्रिटिश लोग हमें आजाद नहीं कर रहे थे, उनके शब्दों में कहा जाए तो वे सिर्फ सत्ता का हस्तान्तरण कर रहे थे। इस हस्तान्तरण को करते हुए जो सौदेबाजी उन्होंने की, उसका मुख्य उद्देश्य यह था कि सत्ता उनके हाथ से निकल कर किन्हीं ऐसे लोगों के पास न पहुँच पाए, जो बहुत अस्पष्ट रूप से ही सही, लेकिन फिर भी भारतीय होने और भारतीय मूल्यों और तौर–तरीकों का प्रतिनिधित्व करने का दम भरते थे। अंग्रेजों ने खूब कोशिश करके सत्ता संतुलन को उन पश्चिमीकृत लोगों के पक्ष में करने की कोशिश की जो भारतीय समाज से बिल्कुल कट चुके थे। लेकिन यह भारतीय समाज से उखड़े हुए पश्चिमीकृत लोग रातोंरात पैदा नहीं हो गए थे। एक सदी या उससे भी ज्यादा से ये लोग भारतीय परिदृश्य का हिस्सा बने हुए थे और उनकी संख्या लगातार बढ़ते ही जा रही थी। लगता है १८२९ तक तो ये लोग भारतीय समाज में पैदा हो ही चुके थे। उस साल ब्रिटिश गवर्नर जनरल बेंटिक ने ऐसे लोगों के बारे में लिखा था – "पहले के दिनों में जो पैसा भिखारियों और ब्राह्मणों में बाँटने पर खर्च किया जाता था उसका बड़ा हिस्सा अब अक्सर यूरोपीय लोगों का आडंबरपूर्ण मनोरंजन करने में लगाया जाता है।" बेंटिक को यह सूचना भी मिली थी कि 'फिजूल दान–दक्षिणा पर होने वाला खर्च' अब काफी कम हो गया था और यह जानकर उसे काफी संतोष हुआ था। सोलहवीं और सत्रहवीं सदी में जब क्षत्रिय, कायस्थ और दूसरे ऊँचे वर्गों के बहुत सारे लोगों ने मुगल दरबार के तौर–तरीकों और





आचार–व्यवहार को अपना लिया था, तब भी शिष्ट समाज भारत के समाजतंत्र से इसी तरह कट गया होगा। यहाँ तक कि मराठे भी, जो अठारहवीं सदी में कई दशकों तक मुगल दरबार पर छाए रहे, समाज से टूटने की इस प्रक्रिया से बच नहीं पाए थे।

पश्चिमी आधुनिकता की तकनीकों और उपकरणों के आने के बाद, शिष्ट लोगों के, मूल समाज से, टूटने की प्रक्रिया और भी तेज हो गयी। इस सब का नतीजा यह हुआ कि बीसवीं सदी के आते–आते हम लोगों ने भारतीय सभ्यता, भारतीय लोगों, और यहाँ तक कि अपने ही निकट संबंधियों को उसी दृष्टि से देखना शुरू कर दिया जिस दृष्टि से अठारहवीं सदी के अंतिम वर्षों के आसपास से पश्चिम के लोग हमें देखते आए थे। कार्नवालिस, विलियम विलबरफोर्स, जेम्स मिल, थॉमस वाबिंगटन मैकाले, कार्ल मार्क्स और बहुत सारे दूसरे पश्चिमी प्रशासकों, विद्वानों, वगैरह ने भारतीय जीवन की निकृष्टता और भारतीय सभ्यता के घटियापन के बारे में जो फतवे दिए थे, वे समय पाकर हमारे अपने फतवे बन गए। बीसवीं सदी में भारतीय इतिहास, भारतीय समाज और उस समाज के ज्ञान–विज्ञान के बारे में जो किताबें लिखी गई हैं, वे पश्चिमी विद्वानों और भारतविदों के विचारों का ही अनुसरण करती हैं। इन किताबों में जो थोड़ी – बहुत विविधता दिखाई देती है, उसमें भी कुछ मौलिक नहीं है। पश्चिमी विद्वानों ने भारत के बारे में अपने विचारों को अलग–अलग तरीकों से पेश किया था, लेकिन वे सब इस पर एक मत थे कि भारतीय जीवन निकृष्ट है और भारतीय सभ्यता निचले दर्जे की। इन विद्वानों के प्रस्तुतीकरण में जो विविधता है, वही आगे चल कर भारतीय लेखकों की किताबों में प्रकट हुई है।

भारतीय शिष्ट समाज का अपने आपसे इस तरह कटे हुए होने का प्रभाव, १९४७ से पहले की उन सब रचनाओं में भी दिखाई देता है जिनमें हमें कुछ बौद्धिक कौशल, विद्वत्ता और स्वतंत्र पहल दिखाने का मौका मिल सकता था। बालगंगाधर तिलक जैसे महान देशभक्त ने इण्डो–आर्यन लोगों के मूल रूप से स्कैंडीनेविया से आने का जो सिद्धांत बनाया था, वह भारतीय लोगों का अपने समाज से उखड़कर, दिग्भ्रमित हो जाने का ही उदाहरण है। १९३८ में राष्ट्रीय कांग्रेस ने जो राष्ट्रीय योजना समिति बनाई थी और जिसमें कम से कम दो सौ प्रमुख भारतीयों ने हिस्सा लिया था, उसके काम में भी यही, समाज से कटे होने का, प्रभाव दिखाई देता है। इस समिति का काम और समिति के निष्कर्ष के पीछे की सोच और चिंतन में जो यांत्रिकता और घटियापन दिखाई देता है, वह शायद हमारे दिग्भ्रमित होने का और भी स्पष्ट सबूत है। १९२० तक तो भारत के सभी विद्वान और संपन्न लोग यह मानने ही लगे थे कि भारत के ज्यादातर लोग अंधविश्वासी, पुराणपंथी,

जातपाँत में बँटे हुए, तकनीकी स्तर पर मूर्ख और सांस्कृतिक स्तर पर उजड्ड हैं।

१९२० से १९४७ तक महात्मा गांधी के उत्थान के दौर से ऐसा लगने लगता है कि जैसे आम भारतीय को उसका साहस और उसकी गरिमा वापस मिल गई हो और अब उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। कम से कम सार्वजनिक स्तर पर तो उसे भुलाना मुमकिन नहीं था। इस दौर में आम भारतीय के 'अंधविश्वास' और 'मूर्खताएँ' वगैरह भी सद्गुणों जैसी दिखाई देने लगी थीं। चरखा, चक्की, खड्डी, घानी, वगैरह जैसे उसके उपकरण, जिन्हें तब तक हिकारत की निगाह से देखा जाता था, अब सात्विकता के प्रतीक और स्वतंत्रता के हथियार दिखाई देने लगे थे। असल में इन सब चीजों के बारे में सारे समाज में एक व्यापक खुशफहमी फैलने लगी थी और बहुतों में यह उम्मीद जगी थी कि सात्विक–सादे जीवन का एक नया सतयुग अब आने ही वाला है।

लेकिन स्वतंत्रता पाते ही यह खुशफहमी दूर हो गई। भारत को आजाद करवाने, भारतीय लोगों का अपने देसी उपकरणों और उत्पादनों में विश्वास जगाने और उनको आजादी पाने के लिए एक जुट होकर खड़ा करने में इस खुशफहमी का काफी बड़ा हाथ रहा था। लेकिन सिर्फ इस खुशफहमी से उस सबको दोबारा जागृत नहीं किया जा सकता था जिसे पिछले डेढ़–दो सौ सालों के दौरान बहुत सोच–समझ कर नष्ट किया गया था। एक अभूतपूर्व नेता के आह्वान पर लोगों में पैदा हुई कल्पनातीत देशभक्ति के उभार से समाज के टूटे हुए टुकड़े किसी तरह एक बार फिर जुड़कर सामने आए थे और उनके इस जुड़ने से एक बड़ा उद्देश्य पूरा हो सका। लेकिन स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान जो समाज बहुत सक्षम और काम का दिखाई देने लगा था, वह स्वतंत्रता प्राप्त होते ही चरमरा गया। शायद यह ठीक से समझा नहीं गया था कि भूतकाल की तकनीकों के ये टुकड़े एक बिलकुल अलग तरह की सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था के अंग थे और उसी व्यवस्था में इनका कुछ उद्देश्य या मतलब हो सकता था। या शायद हम ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय समाज के विनाश की व्यापकता का अंदाज नहीं लगा पाए थे और आज की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अवधारणाओं का भारत की मूल अवधारणाओं से बिलकुल उल्टा होने की बात को समझ नहीं पाए थे।

ब्रिटिश प्रशासन में भारत का भारी शोषण हुआ। इस शोषण के कारण हमारी हस्त कलाएँ और हमारे उद्योग नष्ट हो गए । कृषि और पशुपालन के धंधों में दारिद्रय व्याप गया। लेकिन भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर इस शोषण का प्रभाव और भी भयंकर हुआ। सरसरी तौर पर हमें भारत के आर्थिक शोषण की कुछ जानकारी जरूर है, लेकिन भारतीय





समाज को छिन्न–भिन्न करने में ब्रिटिश शासन की भूमिका को हम कुछ खास नहीं समझ पाए हैं।

बहुत पुरातन काल से भारतीय लोगों ने मुख्यत: तीन तरह की इकाइयों में अपने आपको व्यवस्थित कर रखा था। इनमें एक तो गाँव, मुहल्ले, कस्बे या तीर्थ स्थान जैसी स्थानीय इकाइयाँ थीं, दूसरी जाति व्यवस्था की इकाइयाँ थीं और तीसरी अलग–अलग दस्तकारियों और धंधों के अनुसार बने पेशेवर समूह की इकाइयाँ थीं। लेकिन ये सभी इकाइयाँ एक–दूसरे से बिलकुल अलग अपने में एकांतिक समूह नहीं हुआ करती थीं। हर व्यक्ति किसी गाँव–मुहल्ले में रहता था, वह किसी जाति या कुनबे का सदस्य भी होता था और किसी–न–किसी पेशेवर समूह के साथ भी जुड़ा ही रहता था। व्यक्ति की तरह ही उसकी स्थानीय, जातिगत और पेशेवर इकाइयाँ भी अपनी तरह की दूसरी इकाइयों के साथ जुड़ी रहती थीं। जिन–जिन परिस्थितियों में किसी एक तरह के समूह को दूसरे समूहों के साथ तालमेल बनाने की जरूरत पड़ती थी, उन परिस्थितियों में ऐसा तालमेल भी होता रहता था।

सभ्यता के लिहाज से भारतवर्ष हमेशा एक अखंड अविभाज्य क्षेत्र माना जाता रहा है। लेकिन भारतवर्ष की मूल राजनैतिक इकाइयाँ छोटे–छोटे सुसम्बद्ध इलाकों पर आधारित रही हैं। भारतीय इतिहास के ज्यादातर दौरों में, इन मूल राजनैतिक इकाइयों की संख्या सैकड़ों नहीं तो दर्जनों में तो गिनी ही जा सकती हैं। यह ठीक है कि भारत में चक्रवर्ती सम्राट की अवधारणा भी हुआ करती थी। इस अवधारणा में चक्रवर्ती राजा इस पृथ्वी का सर्वोच्च शासक समझा जाता था। राम, अशोक और चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ऐसे ही सम्राट माने जाते हैं। विजयनगर के चोल शासक और यहाँ तक कि अकबर भी अपने समय में चक्रवर्ती की प्रतिष्ठा पाने की कोशिश करते रहे। लेकिन चक्रवर्ती का पद मुख्यत: प्रतिष्ठा का ही पद था। चक्रवर्ती को अपने से ऊँचा मानकर दूसरे राजा उसका सम्मान करते थे। यह सम्मान लगभग उसी तरह का था जैसा कि लोग संन्यासी, ऋषि, विद्वान या कवि को दिया करते हैं। चक्रवर्ती में अनेक सद्गुण और कई तरह के कौशल हुआ करते होंगे। लेकिन यह साफ है कि वह न तो पूरे भारतवर्ष का प्रशासक हुआ करता था, न ही उसे पूरे भारतवर्ष से कर इकट्ठा करने वाले किसी बड़े कलेक्टर के रूप में देखा जा सकता है और न ही भारत की सैनिक शक्ति के किसी सर्वोच्च सेनापति के रूप में। यह सब काम तो मूल राजनैतिक इकाइयों का प्रशासन चलाने वाले लोग ही किया करते थे।

ये मूल राजनैतिक इकाइयाँ गाँव, मुहल्ले, कस्बे वगैरह पर आधारित स्थानीय इकाइयों

में बँटी होती थीं। एक राजनैतिक इकाई में शायद हजारों ऐसी स्थानीय इकाइयाँ रहती होंगी। इन स्थानीय इकाइयों और उन्हें जोड़ने वाली राजनैतिक इकाई में कुछ ऐसा ही संबंध रहता था जैसा कि मूल राजनैतिक इकाइयों और चक्रवर्ती राजा के बीच होता था। प्रभुसत्ता के साथ जुड़े जो अधिकार और कार्य होते हैं, उनमें से ज्यादातर स्थानीय स्तर पर ही हुआ करते थे। सिर्फ बचे हुए साधन, अधिकार और कार्य ही बड़ी राजनैतिक इकाई के हाथ में होते थे। कुछ क्षेत्रों में राजनैतिक इकाई की शक्ति और अधिकार काफी व्यापक रहे होंगे। लेकिन यह अधिकार मुख्यत: प्रशासनिक ही था। क्या प्रशासित किया जाना है, इसका फैसला तो पहले ही हो चुका होता था। प्रशासन की नीति या तो धर्म से परिभाषित होती थी या सामाजिक रीति–रिवाजों से। इन रीति–रिवाजों में परिवर्तन तो सिर्फ कालान्तर में ही हो सकता था। जाति या किसी पेशे से संबंधित मामलों के बारे में नीति का फैसला, सम्बन्धित जाति या पेशेवर समूह की सहमति से भी हो सकता था। या फिर बड़े मामलों में किसी महान ऋषि या विद्वान वगैरह के माध्यम से सभ्यता के स्तर पर बड़ा फैसला हुआ करता था। राजनैतिक इकाई को चलाने वाले लोग तो इन फैसलों को सिर्फ लागू ही किया करते थे, ये फैसले करने का, नीति या धर्म को निर्धारित करने का अधिकार तो उन्हें नहीं था।

अन्य सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं की तरह इस व्यवस्था की भी कई कमजोरियाँ थीं। इस भारतीय व्यवस्था में ही कई पहलू ऐसे थे जिनसे कई बार मानव की समानता के आदर्श का उल्लंघन होता होगा। कुछ व्यक्तियों और समूहों की महत्वाकांक्षाओं से इस व्यवस्था में भी बार–बार तनाव पैदा होता होगा। लेकिन व्यवस्था के इस भारतीय तरीके की चाहे जो भी कमजोरियाँ और खामियाँ रही हों, भारत के लोग बार–बार इसी तरीके के मुताबिक अपने आपको सामाजिक – राजनैतिक व्यवस्था में बाँधने की कोशिश करते रहे हैं। अपने आपको समझने के लिए शायद आज भारतीय व्यवस्था के इस तरीके को समझना जरूरी है। लगता है कि आजकल भी जो नये–नये समूह खड़े होते रहते हैं और जिस तरह ये समूह बाकी सबसे हटकर अपनी व्यवस्था खुद बनाने की कोशिश करते हैं, वह भारत में सामाजिक–राजनैतिक इकाइयाँ बनाने के पुराने तरीकों के मुताबिक ही होता है।

ब्रिटिश प्रशासन के दौरान यह सामाजिक–राजनैतिक व्यवस्था छिन्न–भिन्न हो गई। इस व्यवस्था में इकाइयों के दूसरी इकाइयों के साथ रिश्ते टूट गए। उनके साधनों का आधार खत्म कर दिया गया। नई कानूनी व्यवस्था की दृष्टि से इन इकाइयों की कोई वैधता नहीं





रही। भारतीय व्यवस्था की ये टूटी हुई और वंचित इकाइयाँ फिर अपने आप में सिकुड़ने लगीं और समय के साथ, वे आज जैसी दिखाई देती हैं वैसी जड़, विकृत और प्राणहीन इकाइयों के रूप में परिवर्तित हो गईं। पश्चिमी विद्वानों ने भारत के बारे में जो लिखा है और भारतीय व्यवस्था के बारे में जिस तरह के फतवे दिये हैं, उनसे भारतीय व्यवस्था की यह टूटी हुई प्राणहीन स्थिति ही, भारत की सनातन स्थिति लगने लगी है। इन फतवों से और उन पर हमारे एकनिष्ठ विश्वास के कारण, इस विकृत व्यवस्था वाली स्थिति को ही हमने सच मान लिया है और उसे ही प्रतिष्ठा और वैधता मिलने लगी है।

इसमें तो कोई शक नहीं हो सकता कि लोग गांव–मुहल्लों और कस्बों–शहरों जैसे स्थानीय समूहों में जुड़कर रहते हैं। आम आदमी किसी समूह या किन्हीं समूहों के सदस्य के रूप में ही अपने आपको सुरक्षित महसूस कर पाता है, सामाजिक समूहों का सदस्य बनकर ही वह खुश रह पाता है। भारतीय लोगों का गांवों और छोटे–छोटे कस्बों में मिलकर रहने का अपना एक विशेष तरीका था। वे अपने संबंधियों के साथ जुड़कर रहना पंसद करते थे। परन्तु अपने देश में सभी भारतीयों के किसी एक या दूसरी जाति के साथ होने का अर्थ यह कभी नहीं रहा कि वे जाति का सदस्य होते हुए भी कहीं दूसरे आधारों पर बने गुटों और समूहों में हिस्सा नहीं लेते थे। विद्वतापूर्ण सांस्कृतिक रुचियों, आध्यात्मिक और धार्मिक शिक्षाओं, तकनीकी और दूसरी विशेषताओं, वगैरह के आधार पर विभिन्न समूह बनते ही रहते थे। लेकिन इन समूहों के साथ जुड़ाव किसी व्यक्ति के जीवन में तात्कालिक महत्व का ही होता था, जबकि उसकी जाति और उसका गांव–मुहल्ला ऐसी चीजें थीं, जिनके साथ वह अपने को हमेशा–हमेशा के लिए जुड़ा हुआ पाता था। कुछ ही समय पहले तक दुनिया के बाकी सब लोगों को भी अपने इलाके और कुनबे के बारे में ऐसी ही भावनाएँ हुआ करती थीं।

नया भारत बनाने के बारे में सोचते वक्त राजतंत्र ने भारतीय आदमी की अपने गांव और अपनी जाति के साथ जुड़े रहने की इस पसंद को बिल्कुल नजरअंदाज कर दिया है। इसी तरह हमने उसके ज्ञान–विज्ञान और तकनीकी कौशल को भी नजरअंदाज किया है। हमने उसे एक निर्जीव प्राणी के अलावा और कुछ नहीं समझा। इस राजतंत्रक चिंतन के मुताबिक, इस भारतीय सोच और कौशल का नए भारत को बनाने के काम में कोई योगदान नहीं हो सकता। हाँ, दो सौ सालों के दारिद्रय और भूख के बाद, उसके शरीर में जो थोड़ी–बहुत शारीरिक शक्ति बची है, उसका इस्तेमाल देश निर्माण के काम में भले ही कहीं हो जाए। हमारे पास खुद कोई बड़ा आदर्श नहीं है। नतीजन हम आम भारतीयों के

सामने कोई ऐसा आदर्श या विचार नहीं रख सके, जिसे पूरा करने में उनकी रचनात्मक और बौद्धिक क्षमताएँ फल–फूल सकें।

ब्रिटिश शासन के पराएपन और इससे हुई तोड़–फोड़ और दारिद्रय के फलस्वरूप, विभिन्न जातियों में बने हुए पुराने रिश्ते भी टूट गए। यह ठीक है कि पुरातनकाल से जातियों को वर्णव्यवस्था के अनुसार श्रेणीबद्ध करने की कोशिशें की गई थीं। कहा नहीं जा सकता कि ये कोशिशें किन–किन क्षेत्रों में किस–किस काल में कहाँ तक सफल रहीं। सम्भावना यही दीखती है कि इन कोशिशों से ब्राह्मणों को, धन और राजनैतिक ताकत के क्षेत्र में तो नहीं, लेकिन रीति–रिवाज और पांडित्य के मामले में जरूर सर्वोच्चता मिल गई थी। वर्णव्यवस्था के बाकी हिस्सों का, जातियों के आपसी संबंधों पर कोई अलगाव जैसा प्रभाव हुआ नहीं दीखता। बहुत प्राचीनकाल से कुछ थोड़े–से लोग ऐसे जरूर थे जिन्हें अंत्यज समझा जाता था। लेकिन बाकी सभी की राजनैतिक और आर्थिक ताकत में सीधी हिस्सेदारी थी। बड़े–बड़े राजाओं की विभिन्न जातियों की महिलाओं से शादियों की कहानियाँ मिलती हैं। सभी जातियों से महिलाएँ और पुरुष, महान संतों के पद पर पहुँचते रहे हैं। अठारहवीं सदी के आखिर तक ज्यादातर राजा और राजनैतिक मुखिया लोग गैर–द्विज जातियों से ही हुआ करते थे। ये सब बातें, सभी जातियों के समाज में सम्मान और अधिकार पाने की ओर ही संकेत करती हैं। भीष्म पितामह के पिता ने एक मछुआरे की बेटी से शादी की थी। मछुआरे ने शादी की अनुमति देने से पहले यह वायदा करवाया था कि उसकी बेटी का पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी होगा। अपने पिता के इस वायदे को पूरा करने के लिए ही भीष्म को उम्र भर ब्रह्मचर्य का व्रत निभाना पड़ा था।

भारतीय समाज व्यवस्था के टूटने, समाज में दारिद्रय फैलने और अंग्रेजों की समाज को ऊँच–नीच के मुताबिक श्रेणीबद्ध करने की पुरानी लत के कारण, जातियों में ऊँच–नीच का नया चलन शुरू हुआ। बीसवीं सदी के शुरू तक ब्रिटिश समाज बहुत ही सूक्ष्मता से श्रेणीबद्ध था और ब्रिटेन में हमेशा ही ऊँचे और नीचे लोगों की बातें हुआ करती थीं। इसलिए ब्रिटिश प्रशासकों ने मनु संहिता के वर्णव्यवस्था से संबंधित अंशों को खूब महत्व दिया। भारत के दूसरे धर्म ग्रंथों से भी इसी तरह के हिस्से निकाल कर सामने लाए गए। ब्रिटिश अदालतों ने भारतीय समाज में श्रेणीबद्ध ऊँच–नीच की व्यवस्था को वैधता देने के लिए, संहिताओं के इन अंशों का खूब इस्तेमाल किया। बाद में जनगणना के जरिए जातियों की ऊँच–नीच के हिसाब से सुसज्जित सूचियाँ तैयार की गईं। इन सूचियों ने भी जातियों के आपसी संबंधों को विकृत करने और उनमें ऊँच–नीच की बात को वैधता देने





में बड़ी भूमिका निभायी। फलस्वरूप १८०० और १९०० के बीच दक्षिण भारत में "परायी" समझी जाने वाली जातियों की संख्या दस गुना बढ़ गई। यह बढ़ोत्तरी, जनगणना की सूचियों में विभिन्न दूसरी जातियों को "परायों" की श्रेणी में लाकर की गई। सूची बनाने के बहाने जातियों को ऊँचा और नीचा करने के ऐसे कई दूसरे उदाहरण मिल जाएँगे। भारतीय समाज भविष्य में जातियों में बँटा रहे या जातीय व्यवस्था बिल्कुल खत्म हो जाए, दोनों ही हालात में आज की स्थिति को दुरुस्त करना तो जरूरी होगा। ब्रिटिश शासन के दौरान फैली विकृति से पहले, जातियों के आपसी संबंधों में एक गरिमा रहती थी। संबंधों की इस गरिमा को दुबारा स्थापित करने से ही शायद, ये जातिगत समूह अपने–आप दूसरे आधारों पर संगठित सामाजिक समूहों में बदल जाएँ।

हमने राष्ट्रीय और स्थानीय स्तर पर १९४७–४८ के आसपास, किसी भी तरह के आत्मनिर्भरता के विचार की अवहेलना करनी शुरू कर दी। अगर हमने ऐसा न करके अपने बलबूते पर इस राष्ट्र का निर्माण करने का कठिन रास्ता चुना होता, तो संभव है कि लड़खड़ाते हुए प्रशासनिक और कानूनी ढाँचे के साथ जो छिन्न–भिन्न भारत अंग्रेजों ने हमें वापस किया था, उसमें भी आजादी के कुछ ही सालों बाद थोड़ी–बहुत जान आ जाती और यह देश विभिन्न क्षेत्रों में अपने बनाए रास्तों पर आगे बढ़ने लग जाता। इस कठिन रास्ते को चुनने पर समाज के ऊँचे समृद्ध लोगों को अपनी आरामदेह जिंदगी जरूर छोड़नी पड़ती और इसलिए चार दशकों के दौरान बड़े शहरों में जो शानो–शौकत और चमक–दमक खड़ी की गई है, उससे शायद देश को वंचित रहना पड़ता। आत्मनिर्भरता का कठिन रास्ता चुनने पर शायद आज कोई "विज्ञान भवन" न होता, नई–नई प्रशासनिक इमारतों के झुंड न होते, बड़े–बड़े बाँध न होते, सितारा होटल न होते, नए–नए सरकारी 'मेहमान घर' और 'सर्किट घर' न बनते, राजधानियों में इमारतें खड़ी करने के बड़े–बड़े कार्यक्रम न होते और शायद सड़कों और रेल लाइनों के ऊपर से गुजरते हुए बड़े–बड़े आधुनिक पुल और उनके नीचे–ऊपर तेज रफ्तार से चलती सुपरफास्ट गाड़ियाँ और मोटर कारें भी न होतीं। इनके बजाय हमने बड़े शहरों की सफाई का इंतजाम करने के काम को गंभीरता से लिया होता, छोटे कस्बों की ठीक से देखभाल करने और उनमें जरूरी सुविधाएँ मुहैया करवाने के बारे में सोचा होता और अपने गांवों की ओर ध्यान दिया होता। ये गांव तो पिछले दो सौ साल से लापरवाही में सड़ते हुए देश के ध्यान के लिए चिल्ला रहे हैं।

शहरों के बजाय हमने गांवों–कस्बों के विकास पर ज्यादा ध्यान दिया होता तो हमारे

साधन और हमारा ज्ञान–विज्ञान लोगों की जिंदगी को सुधारने के काम आ जाता। इस तरह का सुधार शुरू होने पर हमारे लोगों की सोई पड़ी क्षमताएँ, कला–कौशल, ज्ञान–विज्ञान एक बार फिर जाग उठते और इनसे आम आदमी की रोजमर्रा की जिंदगी को सुधारने का काम और तेज़ी से चल निकलता। हो सकता है कि उस हालत में हमारे लोग पश्चिमी विज्ञान और तकनीक के विभिन्न पहलुओं को अपनी जरूरतों के मुताबिक ढाल कर अपने हिसाब से बरतना भी सीख जाते। देश के बचे–खुचे साधनों और ज्ञान–विज्ञान को बचाकर पुनर्जीवित करने की इस प्रक्रिया में देश के भौंडे अप्रासंगिक कानूनी और प्रशासनिक ढाँचे की खबर भी ले ली जाती और कुछ समय में इस ढाँचे को भारतीय समाज की जरूरतों के अनुरूप ढाल कर इसे देसी समाज की सेवा में लगा दिया जाता।

लेकिन क्योंकि हम कायर थे, हमें न अपने पर विश्वास था और न अपने लोगों पर, और क्योंकि हम पश्चिम की ताकत और उसकी बीसवीं सदी वाली चमक–दमक देखकर आत्मविभोर हो चुके थे, इसलिए हमने भारत को पश्चिमी भाषणों – उपदेशों, पश्चिमी तौर–तरीकों और पश्चिमी ज्ञान–विज्ञान के लिए खुला छोड़ दिया। हमें वही सलाह और तकनीक वगैरह हासिल हुई, जिन्हें पश्चिम ने हमें देने का फैसला किया था। इस सलाह और तकनीक के साथ सलाहकार, वैज्ञानिक, राजनैतिक चिंतक, तकनीशियन और विकास विशेषज्ञ, वगैरह भी आए। बहुत सारे मामलों में कर्जों और अनुदानों के रूप में आर्थिक सहायता भी मिली। इस आर्थिक सहायता का बड़ा हिस्सा तो सलाहकारों और तकनीशियनों वगैरह की सेवाओं की कीमत चुकाने पर ही खर्च होता रहा। इस आर्थिक सहायता का जो अंश वास्तव में हमारे हाथ लगा और जिसे भारतीय साजो–सामान व भारतीय लोगों की तनख्वाहों वगैरह पर खर्च किया जा सका होगा, वह आज तक कभी भी हमारे नाम लिखे गए कर्जों और अनुदानों की राशि के एक चौथाई से ज्यादा नहीं रहा। विदेशों से मिलने वाली कुल आर्थिक सहायता प्रशासकों के पास उपलब्ध साधनों के पांच से दस प्रतिशत से ज्यादा कभी नहीं रही। केंद्रीय और राज्य सरकारों व स्थानीय संस्थाओं के बजट में विदेशी सहायता का प्रतिशत सिर्फ इतना ही रहता है। लेकिन यह थोड़ी–सी विदेशी सहायता निश्चित करती रही है कि बाकी की नब्बे–पिचानबे प्रतिशत सहायता किस तरीके से और किन कामों में बरती जाएँगी। दूसरी तरफ सरकारी खर्च के तौर–तरीके देश के बाकी बचे राष्ट्रीय उत्पाद के उपयोग की दिशा को निर्धारित करते रहे हैं। इस तरह देश के लोगों के पास बचे साधनों के उपयोग का ढंग इस बात पर निर्भर करता है कि सरकार किन मदों पर किस तरह खर्च कर रही है, और सरकारी खर्च की दिशा इस पर निर्भर करती





है कि बजट का मात्र पाँच–दस प्रतिशत सहायता के रूप में देने वाले विदेशी लोग, इसे किस दिशा में ले जाना चाहते हैं।

इस सारे दारुण व्यापार की मुख्य जिम्मेदारी, भारतीय राज्य पर और खास तौर पर इस राज्य से संबंधित उन लोगों पर ही आती है जो आजादी के बाद से भारत की नीतियाँ निर्धारित करते रहे हैं। इन लोगों में से बहुत सारे आजादी के पहले से ही खुलेआम या निजी तौर पर सोवियत यूनियन समेत पश्चिम पर इस तरह की निर्भरता की वकालत करते आए थे। महात्मा गांधी पश्चिम के साथ इस तरह के संबंधों के पूरी तरह विरोध में थे। कहा जाता है कि पश्चिमी तकनीकों और पश्चिमी तर्ज के औद्योगीकरण पर आधारित विकास के विचार से भी ज्यादा महात्मा गांधी इस निर्भरता को नापसंद करते थे। अगर किन्हीं विशेष अवस्थाओं में भारत को पश्चिमी तकनीकों, पश्चिमी ज्ञान–विज्ञान और पश्चिमी विशेषज्ञों की जरूरत थी, तो ये सब बाजार में पैसा खर्च कर खरीदे जाने चाहिए थे। आखिर पश्चिम का ज्ञान और पश्चिमी विशेषज्ञ वगैरह सब बिकाऊ माल ही तो है। फिर इस सबको हर हालात में भारतीय आवश्यकताओं के अनुरूप और अपने नियंत्रण के अधीन ही बरता जाना चाहिए था।

लेकिन गांधीजी के इस बारे में खूब सोच–विचार कर दिए गए मशविरे को सिर्फ शासकीय ढाँचे में ही नजरअंदाज नहीं किया गया; जो लोग अपने आपको शासन से कुछ दूरी पर रखे रहे हैं, उन्होंने भी अपने को स्वेच्छा से पश्चिमी साधनों और विचारों वगैरह पर इसी प्रकार निर्भर कर रखा है। शासकीय ढाँचे से दूर रह कर स्वयंसेवी काम करने की इच्छा रखने वाले इन लोगों की संख्या थोड़ी नहीं है। हो सकता है कि इन लोगों की विदेशी साधनों और विचारों पर निर्भरता से, भारतीय लोगों और उनके भविष्य को जो क्षति पहुँची है, वह शासन के विदेशी विचारों और साधनों पर निर्भर होने से हुई क्षति के मुकाबले मामूली ही हो। लेकिन इन स्वयंसेवी लोगों ने यह रास्ता अपना कर सरकार के इस रास्ते पर चलने की बात को वैधता प्रदान की है और सरकार की विदेश पर निर्भरता की नीति को नैतिक मंजूरी दिलवा दी है। इन स्वयंसेवी लोगों में से ज्यादातर, शासकीय ढाँचे में जमे लोगों से अपने आपको नैतिक स्तर पर ऊँचा समझते रहे हैं। ये लोग अभी भी अपनी नैतिक ऊँचाई का दावा बनाए हुए हैं। इस दावे का आधार शायद यही है कि ये लोग आम आदमी के दुःख–दर्द को ज्यादा गहराई से महसूस करते हैं। जो काम उन्होंने अपने जिम्मे लिए हैं, उन्हें वे शासनतंत्र के मुकाबले ज्यादा ईमानदारी से निभाते रहे हैं। और कुछ विशेष कार्यों को वे ज्यादा प्रभावशाली ढंग से और कहीं कम खर्चे में पूरा कर पाए हैं। लेकिन इन

स्वयंसेवी लोगों की बड़ी पूँजी तो यही थी कि जिन लोगों के साथ वे काम करते थे, वे लोग कुछ हद तक इनके साथ एकात्मता महसूस करते थे — इन्हें अपने में से एक मान कर। ज्यों ही इन लोगों ने विदेशों से आर्थिक सहायता लेने और विदेशों के साथ संबंध बनाने का आसान रास्ता चुना, तभी उनकी भारत के लोगों के साथ यह एकात्मता भी खत्म हो गई। उन्होंने यह रास्ता शायद इसलिए पकड़ा होगा कि स्थानीय स्रोतों से साधन इकट्ठा कर पाना मुश्किल होता जा रहा था, या हो सकता है कि वे बिना किसी विशेष कारण के, बिना सोचे–समझे, शासन तंत्र द्वारा चुने रास्ते पर चल निकले हों। जो भी हो, इस तरह उन्होंने अपनी मुख्य–पूँजी तो खो ही दी है। ऐसा नहीं कि उनके आम लोगों के साथ कोई रिश्ते बचे ही न हों। अभी भी ये स्वयंसेवी संस्थाएँ आम लोगों का कुछ थोड़ा–बहुत भला तो करती ही रहती हैं। लेकिन इन संस्थाओं और आम लोगों के बीच का रिश्ता अब आजादी से पहले या आजादी के तत्काल बाद के कुछ सालों जैसा नहीं रहा। इनके बीच मानसिक संबंध टूट चुका है, स्वयंसेवकों और लोगों के उद्देश्यों में अब कोई तारतम्य नहीं रहा। अब इनका रिश्ता मुख्यत: दाता और याचक के बीच के रिश्ते जैसा ही है। इन स्वयंसेवी लोगों के अब भी शासनतंत्र के साथ झगड़े चलते रहते हैं, अब भी बहुत मामलों में ये अपने आपको शासन तंत्र से अलग पाते हैं, अब भी ये लोग अपने काम में ज्यादा निष्ठा और ईमानदारी का परिचय देते हैं। लेकिन इस सबके बावजूद अब वे देश की आम जनता का हिस्सा नहीं रहे। वे लोगों में से एक नहीं हैं, बल्कि शासन–तंत्र का ही एक अंग दीखते हैं। वे शासकीय प्रबंधकों जैसे ही हैं। हाँ, इतना जरूर है कि ये उनके मुकाबले में कहीं कम साधन संपन्न हैं और अक्सर शासनतंत्र की छोटी–मोटी शिकायत करते रहने पर मजबूर हैं।

आजादी के समय भारत के लोग बहुत बुरी आर्थिक स्थिति में थे और उनका सामाजिक ढाँचा छिन्न–भिन्न था। ब्रिटिश शासन के दौरान भारत के प्राकृतिक और मानव संरचित साधनों का जो नुकसान हुआ, उसकी गणना नहीं की जा सकती। अगर ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर भारत की जीत किसी सैनिक जीत जैसी ही होती, तो भारत भी ब्रिटेन और पश्चिम से भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था की जानबूझ कर की गई तोड़–फोड़ के लिए मुआवजा मांगने का हकदार होता। या अगर भारत दुनिया के दूसरे देशों को वैश्विक बंधुत्व के अपने आदर्श की ओर झुका पाता, तो मानवीय गरिमा और प्रकृति का सम्मान बनाए रखते हुए विश्व के साधनों को सारी दुनिया में बाँटकर बरत पाना संभव हो पाता। लेकिन इन दोनों में से कोई बात भी नहीं हुई। ऐसे में भारत के पास सिर्फ एक ही





गरिमापूर्ण रास्ता बचा था कि अकेले ही अपने आदर्शों के अनुरूप अपनी राह बनाए। आत्मनिर्भरता के इस रास्ते पर चलना चाहे कितना ही कठिन क्यों नहीं होता, यह आजादी के पूर्व दो सौ सालों के भारतीय अनुभव से ज्यादा कठोर तो नहीं हो सकता था।

असल में ऐसे रास्ते पर चलना हम सबके लिए कहीं ज्यादा उत्साहवर्धक और आनंददायक हो सकता था। लेकिन हमने जानबूझ कर उस रास्ते पर चलने की संभावनाओं को मिटा डाला। इस देश के आम आदमी को तो वही एक सही रास्ता दिखाई देता होगा। फिर इस रास्ते को छोड़ने के क्या कारण हो सकते थे? क्या समाज के वे ऊँचे लोग जिन पर विदेशी शासकों द्वारा बनाए प्रशासनिक ढाँचे को चलाने का भार आ पड़ा था, आजादी लाने तक बहुत बुरी तरह थक चुके थे? या कि उन्हें आरामदायक जिंदगी बिताने की आदत हो गई थी? या हम अपने लोगों से बिल्कुल कट कर पराये हो गए थे और असल में काले रंग के पश्चिमी साहिब ही बन गए थे? इन सब प्रश्नों पर विचार करना होगा। इनके जवाब से शायद हमें विदेशों पर निर्भरता की इस वर्तमान प्रवृत्ति को उलटने की राह दिखाई दे जाए।

पश्चिम पर या किन्हीं दूसरे देशों पर निर्भरता के इस तरह के संबंध को तोड़ देने का मतलब यह नहीं कि हम अंतर्राष्ट्रीय भाईचारे से बाहर हो जाएँ। बीमारी के बाद स्वास्थ्य लाभ करने के लिए अक्सर कुछ समय के लिए दूसरे से अलग हट कर अकेले में रहना जरूरी हो जाता है। अगर हमारी आज की हालत में हमारे लिए इस तरह अलग रहना जरूरी हुआ, तो हम इस तरह का इंतजाम कर ही लेंगे कि कुछ देर के लिए हमें अकेला छोड़ दिया जाए। लेकिन हमारा हमेशा मानव जाति के साथ बंधुत्व में विश्वास रहा है। विभिन्न देशों के लोगों में भाईचारे की संभावना ही नहीं, इसकी अनिवार्यता पर हमें इतना यकीन रहा है कि दूसरों के साथ संबंध और हमदर्दी बनाए रखना हमें अपने आप में ही एक अच्छी भावना लगती है। लेकिन किसी भी सभ्यता को दूसरों पर निर्भर होना पड़े, किसी सभ्यता को दूसरों के सांचे में अपने को ढालना पड़े, यह बात तो हमारे मूल्यों के साथ मेल नहीं खाती। अपने लंबे इतिहास में हमने कभी दूसरों पर इस तरह की निर्भरता थोपने की कोशिश नहीं की। हमारे लिए सभी सामाजिक अभिव्यक्तियाँ अपने आप में सही हैं, हर एक का अपना महत्व है, हर अभिव्यक्ति अपने विशेष संदर्भ में वांछनीय है।

पर अब हम बिल्कुल चिकने घड़े हो गए हैं। यूरोपीय अनुभव की तार्किकता से हम इतने विभोर हुए हैं कि भारत के लोग सैकड़ों सालों से जो अपमान और बेइज्जती का भाव झेलते आए हैं, उसे हम देख ही नहीं पाते। इस अपमान की शुरुआत उत्तरी और पश्चिमी

भारत के बड़े हिस्सों पर इस्लाम धर्म का दम भरने वाले आक्रमणकारियों की जीत से हुई। इन विजेताओं ने भारत के इस हिस्से को बिल्कुल तहस–नहस कर दिया। बहुत देर तक भारत के दूसरे हिस्सों पर इसी तरह की बर्बादी ढाए जाने का डर बना रहा। इस्लामी आक्रमणकारियों की यह जीत अब इतिहास का अंग है और उसे शायद अब भुला ही दिया जाना चाहिए। लेकिन उस जीत से ऐसी बहुत–सी चीजें भी नष्ट–भ्रष्ट हुईं, जिन्हें उस समय के भारतीय लोग पवित्र मानते थे और जिन्हें उनके बाद आने वाली आज तक की अनेक पीढ़ियाँ पवित्र मानती आई हैं।

आक्रमणकारियों ने पवित्र स्थानों को सिर्फ तहस–नहस ही नहीं किया, बल्कि उन्हीं पुरानी पवित्र जगहों पर मस्जिदें और मकबरे वगैरह भी खड़े किए। ये मस्जिदें और मकबरे धार्मिकता या पवित्रता के नहीं, सिर्फ जीत और आतंक के प्रतीक हैं। प्राचीन पवित्र स्थलों का भ्रष्ट किया जाना और उन्हीं स्थलों पर मुस्लिम साम्राज्यवाद की प्रतीक मस्जिदों वगैरह का खड़े होना, आज भी हिंदुओं और मुसलमानों के बीच द्वेष का मुख्य कारण बना हुआ है। देश में उचित जगहों पर मुस्लिम मस्जिदों के होने भर से किसी को कोई एतराज नहीं हो सकता। जिन जगहों पर मुस्लिम लोगों की अच्छी खासी आबादी है और जिन जगहों का हिंदुओं के लिए कोई विशेष धार्मिक महत्त्व नहीं है, वहाँ बनी मस्जिदों से किसी हिंदू का दिल दुखने का कोई तर्कसंगत कारण नहीं हो सकता। १९४७ में भारत के विभाजन से हिंदू–मुस्लिम द्वेष की समस्या और भी गहरी हो गई है। आजकल बहुत सारे मुस्लिम नेताओं में कुछ इस तरह का बर्ताव करने का चलन हो रहा है जैसे कि इन नेताओं की मूल निष्ठा इस देश – जहाँ मुसलमानों की बहुसंख्या रहती है और जहाँ उनके दादा–परदादा रहते आए हैं – के साथ न होकर, अंतर्राष्ट्रीय इस्लाम की किसी गैर–देशीय अवधारणा से हो। मुस्लिम नेताओं के इस व्यवहार से मुस्लिम समस्या और बिगड़ी है।

हमारा यह दुर्भाग्य है कि हमारे आज के समाज में इस तरह की समस्याओं पर खुलकर बात नहीं की जाती। जो भी लोग अपमान और गुलामी के किसी दौर से जब आजाद होकर निकलते हैं, तो वे अपने वृहद् समाज में गरिमा और समानता के भाव को दुबारा स्थापित करने की कोशिश करते ही हैं। आजादी पाने का मतलब ही यही होता है कि बहुसंख्यक समाज अपनी गरिमा को दुबारा प्राप्त करे। जो लोग अभी तक दबे हुए और पिछड़े हुए थे, वे जब अपनी गरिमा वापस लाने की कोशिश करते हैं, तो समाज की स्थापित व्यवस्था में कुछ गड़बड़ जरूर होती है। खासकर जो लोग आजादी से पहले शासक–समाज के हिस्से थे और अपने आपको शासक–समाज से जुड़ा हुआ समझते थे, उन्हें आजादी के बाद की गड़बड़ी से कुछ नुकसान भी उठाना ही पड़ता है। किसी भी समाज के आजाद होने के यह सब नतीजे निकलते ही हैं। अगर इन नतीजों को ठीक से न समझा जाए तो इस उथल–पुथल से भारी अव्यवस्था भी फैल सकती है।

हिंदुओं का यह कर्त्तव्य था कि वे भारतीय राज्य की भूमिका और समाज के साथ अल्पसंख्यकों के रिश्ते पर गंभीरता से विचार करते। यह ठीक है कि आजादी के तुरंत बाद के दौर में इन सवालों पर विचार करना बहुत आसान नहीं था। लेकिन अगर ऐसा किया जाता तो हिंदू समाज अल्पसंख्यक कहे जाने वाले समुदायों को अभय देने और उन्हें भारत की मूल सामाजिक–राजनैतिक धारा से जोड़ने का तरीका ढूँढ़ लेता। इस तरह के किसी तरीके पर विचार न करना ही हिंदू समाज की अकेली गलती नहीं रही। इसकी सबसे बड़ी गलती तो शायद इसके कायर और डरपोक होने में ही है। इसी कायरता के कारण हम लोग इस बात पर खुलकर विचार नहीं कर पाते कि समाज में विभिन्न समुदायों के रिश्तों को कैसे बदला जाए ताकि भारतीय समाज एक बार फिर स्वस्थ दीखने लगे। हम उन नियमों और मूल्यों पर बात ही नहीं करना चाहते जिनसे विभिन्न समुदायों के आपसी रिश्ते परिचालित होने चाहिए। ये सब नियम और मूल्य हमें अपनी संस्कृति और परंपरा के आधार पर ही गढ़ने होंगे। दूसरे देशों और दूसरी सभ्यताओं से उधार लिए गए मूल्य किसी काम नहीं आ सकते।

यह खुशी की बात है कि कुछ मुस्लिम नेता अब (१९८६ में) कहने लगे हैं कि हमें भारत के पाँच हजार साल के इतिहास को अपना इतिहास मानना चाहिए और 'जो शासक अपने आपको मुस्लिम कहा करते थे, उनके सभी कार्यों पर तालियाँ बजाने की प्रवृत्ति छोड़ देनी चाहिए।' १९८० में मुस्लिम नेताओं से इसके बिल्कुल विपरीत बात सुनाई पड़ी थी। तब एक मुस्लिम नेता ने कहा था कि 'भारतीय मुसलमान अंतर्राष्ट्रीयता के सिद्धांत में विश्वास करते हैं। मुसलमान एक अंतर्राष्ट्रीय धार्मिक–सांस्कृतिक समुदाय हैं, जो इस्लाम के सर्वव्यापी रिश्तों से एक–दूसरे से बंधे हैं।' इस बयान में मुसलमानों के समुदाय को एक 'बहुराष्ट्रीय कंपनी' की उपमा दी गई थी। १९८० के इस बयान के मुकाबले १९८६ का ऊपर वाला बयान कहीं ज्यादा स्वागत योग्य है और खासकर मुसलमानों को इसका स्वागत करना चाहिए। लेकिन इस मामले में अभी बहुत आगे बढ़ने की जरूरत है। अगर हम तेजी से इस बारे में कुछ नही करते, तो हम अपने लोगों के दारिद्र्य को बढ़ाते ही रहेंगे। जब तक यह मामला सुलझाया नहीं जाता तब तक, खास कर मुसलमानों व ईसाइयों के बहुत बड़े हिस्से और हिंदू समुदायों के बहुत–से हिस्सों के पिछड़ेपन को दूर नहीं किया

जा सकेगा।

आचार्य प्रफुल्ल चंद्र राय ने १९२३ में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के पहले दीक्षांत समारोह को संबोधित करते हुए इस्लाम धर्मावलंबियों के ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में ऐतिहासिक योगदान की खूब तारीफ की थी। लेकिन उन्होंने उससे पहले दीक्षांत समारोह में इकट्ठे हुए लोगों को यह भी याद दिलाया था कि भारत किसी की विभाजित निष्ठा को बर्दाश्त नहीं कर सकता। उन्होंने कहा था –'भारत का कल्याण हमारा पहला, दूसरा और अंतिम लक्ष्य होना चाहिए।' लगता है कि सभी हिंदू–मुस्लिम झगड़ों के बावजूद आचार्य प्रफुल्ल चंद्र और बहुत सारे दूसरे लोगों की नेक सलाह अब कुछ प्रभाव दिखाने लगी हैं। प्रफुल्ल चंद्र राय के शब्दों का असर सिर्फ उन्हीं लोगों पर ही नहीं हो रहा है जिनके लिए ये शब्द संबोधित किए गए थे, बल्कि अनेक दूसरे लोग भी इनसे कुछ सीखने लगे हैं। असल में सिर्फ कुछ मुसलमान ही अपने आपको 'बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ' नहीं मानते, बल्कि इस देश में अनेक दूसरे लोग भी ऐसे हैं जो इसी तरह सोचते हैं और समझते हैं कि वे अभी 'भारतीय बनने को तैयार नहीं।'

भारतीय लोगों को अपमान का एहसास दिलाने वाले प्रतीक, सिर्फ मुस्लिम आक्रमणकारियों की जीत के ऐसे अवशेष ही नहीं हैं। यूरोपीय जीत के प्रतीक इनसे कहीं अधिक दूर–दराज तक फैले हुए है। यह ठीक है कि इन यूरोपीय प्रतीकों से भारत की धार्मिक संवेदनाओं पर अक्सर कोई चोट आती नहीं दीखती। लेकिन इनका जहर कहीं ज्यादा गहराई से मार कर रहा है। यह जहर भारत की रंगों में दूर–दूर तक फैल गया है। इसके चलते लगता है कि भारतीय मानस और विवेक पूरी तरह भटक गया है। भारतीय लोगों की ऐतिहासिक स्मृति लुप्त हो गई है। हम सामाजिक–राजनैतिक व्यवस्था के अपने सिद्धांतों और तौर–तरीकों को भूल गए हैं। वर्तमान की परिस्थितियों को सुधार कर उनमें से कुछ नया गढ़ लेने की हमारी क्षमता नष्ट हो गई है। इस जहर ने हमारे सौंदर्य–बोध को भी नष्ट कर दिया है। हमारी स्थापत्य दृष्टि और हमारे शहरों, कस्बों व गांवों का ढाँचा सब बिलकुल विकृत हो गया है। वायसराय का बंगला, भारत सरकार का सचिवालय परिसर, इंडिया गेट वगैरह जैसी जो इमारतें आज पश्चिमी साम्राज्यवाद के प्रतीक स्वरूप खड़ी हैं, उनका आम भारतीय के साथ कोई रिश्ता नहीं हो सकता। उसे ये कभी भी अपनी इमारतों जैसी नहीं दिख सकतीं। असल में इन इमारतों को बनाने का उद्देश्य ही यही था कि भारतीय आदमी के मानस को यूरोप की ताकत से अभिभूत कर दिया जाए, उस पर यूरोप की ताकत का आतंक जमा दिया जाए। ये इमारतें आज भी ऐसा ही आतंक पैदा





करती हैं। फिर जब तक ये इमारतें और पश्चिम के दूसरे प्रतीक यहाँ बने हुए हैं, तब तक भारतीय स्थापत्य कला, भारतीय स्वरूपों और भारतीय सौंदर्य दृष्टि को दुबारा उभर पाने का कोई अवसर ही नहीं मिल सकता।

आजादी के बाद ब्रिटिश संस्थानों, कायदे–कानूनों और व्यवस्थाओं वगैरह को चालू रखने और पश्चिमी ज्ञान–विज्ञान व तकनीकों को यांत्रिक तरीके से अपना लेने के हक में मुख्य दलील यह दी गई थी कि ऐसा करना भारत की एकता को बनाए रखने और भारत को शक्तिशाली बनाने के लिए जरूरी है। सतही तौर पर यह दलील ठीक ही दीखती है। लेकिन ये पश्चिमी संस्थान, व्यवस्थाएँ, ज्ञान–विज्ञान और तकनीकें वगैरह तो देश को टुकड़ों में ही बाँटते हुए दीख रही हैं। इनके चलते देश, अलग–थलग पड़े पश्चिमीकृत समाज और देशज समाजों के बीच ही नहीं बँटा है बल्कि और भी कई तरीकों से बँट गया है। उससे भी बुरी बात शायद यह है कि इनके बने रहने से लगभग सभी क्षेत्रों में भारतीय रचनात्मक पहल के उभरने की संभावना लगभग खत्म हो गई है। जैसे–जैसे पश्चिमीकरण की रफ्तार बढ़ रही है, वैसे–वैसे भारतीयता का उत्साह और भारतीय रचनात्मकता थोथी पड़ती जा रही है। आज की स्थिति को बनाए रखकर, हो सकता है कि, आज की स्थापित, लेकिन निर्जीव और निष्क्रिय सामाजिक–राजनैतिक व्यवस्था को, हमेशा–हमेशा के लिए बचाया जा सकता हो। लेकिन इस बीच भारतीय सभ्यता और भी खोखली होती चली जाएगी, उसका आंतरिक सत्त्व नष्ट हो जाएगा और जिस दलदल में आज यह सभ्यता फँस गई है, उससे निकलना और भी मुश्किल होता चला जाएगा।

अगर आज की परिस्थितियों का यह विवेचन सही है, तो देश के लिए नये रास्तों को खोजना और नये तरीके ढूँढ़ना अनिवार्य हो जाता है। जो भी विकल्प ढूँढ़ा जाए, वह ऐसा होना चाहिए कि उस पर चलते हुए भारत के लोगों की रचनात्मकता और वैचारिक व क्रियात्मक पहल को फलने–फूलने का मौका मिल सके। ऐसी स्थितियाँ बनानी होंगी जिसमें भारत के लोग अपनी जानकारी और क्षमताओं को, स्थानीय और राष्ट्रीय जरूरतों को पूरा करने के प्रयास में लगा सकें। लेकिन किसी भी ऐसे ज्ञान–विज्ञान की नींव, भारत के लोगों के पास पहले-से उपलब्ध ज्ञान में ही हो सकती है। ऐसी जानकारी और क्षमताओं से शुरू करके ही कोई नया विकास हो सकता है। हमें ऐसी व्यवस्था भी करनी होगी कि भारत के सभी लोग एक–दूसरे के साथ मिल–जुलकर शांति और सद्भाव के साथ रह सकें और भारतीय लोगों की सदियों से हो रहे अपमान के एहसास की स्मृति मिट जाए। यह सब करने का मतलब अनिवार्यतः यह होगा कि देश की राजव्यवस्था को नए सिरे

से गढ़ा जाए और प्रशासकीय कायदे—कानूनों व प्रक्रियाओं को बिल्कुल बदल दिया जाए। लेकिन इन सबसे भी ज्यादा जरूरी यह होगा कि दुनिया के साथ भाईचारे के भाव को अपनी जगह जीवित रखते हुए, भारतीयता और उसकी विभिन्न अभिव्यक्तियों को उभरने का मौका दिया जाए। जब भारत अपने पैरों पर खड़ा हो सकेगा और अपनी देखभाल स्वयं कर सकेगा तो वह दुनिया के दूसरे लोगों के भी किसी काम आ सकेगा। दुनिया भर से प्रेम और दुनिया भर की चिंता करने के लिए जरूरी होता है कि पहले अपनी और अपने आसपास के लोगों की चिंता कर ली जाए। जो अपनी और अपने पड़ोस की ठीक से परवाह नहीं कर पाते, उनसे दुनिया का भला क्या होगा?

इस सदी के बीस और तीस के दशकों के दौरान और शायद उससे पहले भी भारतीय समाज के इरादे और उद्देश्य कुछ इसी तरह के हुआ करते थे। फिर हम भटक कहाँ गए? जब हम आजादी के बाद अपनी भारतीय यात्रा पर निकले थे, तो हमारे पास दुनिया का कोई खास अनुभव नहीं था। क्या इसी अनुभवहीनता के कारण हम पथ—भ्रष्ट हो गए? या कि हमारा चिंतन ही कहीं विकृत हो गया? हमारी जानकारी सीमित थी और हम अपने सोच—विचार को भूत व वर्तमान की वास्तविकता से किसी तरह से जोड़ ही नहीं पा रहे? या शायद हो सकता है कि गुलामी की लंबी रात और आजादी की लड़ाई के उत्साह भरे दिनों के बाद अचानक सामान्य स्थितियों के लौटने पर इस तरह पथ—भ्रष्ट हो जाना स्वाभाविक ही हो। इस तरह के अस्वाभाविक ऐतिहासिक दौरों के गुजर जाने के बाद किसी समाज के लिए रोजमर्रा के सहज जीवन को दोबारा ठीक से पकड़ पाने में शायद कुछ समय लगा ही करता है।

आज की स्थिति को समझने के लिए बहुत सारे सवालों का जवाब देना जरूरी है। इन सवालों का जवाब देते हुए ही हम दुनिया को और उसकी विभिन्न सभ्यताओं को ठीक से समझ पाएंगे। इसी प्रक्रिया में शायद हमें आधुनिकता और उससे उपजे ज्ञान—विज्ञान व तकनीक के पीछे की मूल प्रवृत्तियों की भी कुछ समझ आ जाए। आमतौर पर कहा जाता है कि कोई सभ्यता विशेष रूप से दैवी या आसुरी नहीं हुआ करती, इसलिए किसी सभ्यता में उपजा विज्ञान और तकनीकें भी किन्हीं विशेष मूल्यों या मान्यताओं पर आधारित नहीं होतीं। सिद्धान्त रूप में ये बातें ठीक ही होंगी। लेकिन दुनिया की बाकी सब चीजों की तरह ज्ञान—विज्ञान व तकनीकें भी काल सापेक्ष हुआ करती हैं। किसी एक प्रकार के ज्ञान—विज्ञान व तकनीकों का मूल उद्भव और विकास किसी एक विशेष सभ्यता के साथ जुड़ा रहता है। कम—से—कम इस दृष्टि से तो किसी विशेष ज्ञान—विज्ञान व तकनीक





की अभिव्यक्ति और स्वरूप उस सभ्यता की मूल प्रवृत्तियों पर निर्भर करती ही हैं जिसमें इनका विकास हुआ हो। एक उदाहरण लीजिए। चेहरे—मोहरे को दुरुस्त करने की शल्य क्रिया, जिसे आजकल प्लास्टिक सर्जरी कहा जाता है, अठारहवीं सदी में भारत में खूब प्रचलित थी। लगता है कि यह कला भारत में बहुत प्राचीन काल से ही विकसित हो चुकी थी। आधुनिक प्लास्टिक सर्जरी की शुरुआत भारतीय शल्य क्रिया की जानकारी से ही हुई। लेकिन आधुनिक सभ्यता में प्लास्टिक सर्जरी को जिस तरह के कामों के लिए बरता जाता है, उससे इस कला के भारतीय मूल का कोई अंदाजा नहीं हो सकता। इसी तरह अठारहवीं सदी के आखिर में बर्मा के लोग पेट्रोलियम के बारे में जानते थे। इसे वहां ईंधन व औषधि के रूप में और कई दूसरे उद्देश्यों के लिए बरता जाता था। यह संभव है कि बर्मा के पेट्रोलियम की जानकारी से दुनिया भर में पेट्रोलियम की खोज को बढ़ावा मिला हो। लेकिन आज पेट्रोलियम को जिन व्यापक कार्यों के लिए बरता जाता है, वे सब कार्य पश्चिमी सभ्यता की जरूरतों से ही उपजे हैं। आज भारत में घरेलू ईंधन की भारी कमी है। अगर भारतीय विज्ञान पश्चिम की नकल करने के बजाय अपने ही रास्ते पर चल रहा होता, तो हो सकता है कि बर्मा में खोजे गए पेट्रोलियम का उपयोग हमारे यहाँ गांवों और छोटे कस्बों के लोगों की ईंधन की जरूरतों को पूरा करने के लिए किया जाता। लेकिन क्योंकि हम विज्ञान के क्षेत्र में सिर्फ पश्चिम की नकल ही कर रहे हैं, इसलिए आज हमारे पेट्रोलियम और ईंधन गैस के स्रोत गैर—जरूरी यातायात को चलाने, फालतू के औद्योगिक कृत्रिम पदार्थों को बनाने और रासायनिक खादों के उत्पादन में खर्च होते हैं। रासायनिक खादों के बजाए, गोबर की खाद से कहीं बेहतर तरीके से हम अपना काम चला सकते हैं। हमारे यहाँ बहुत पहले से गोबर की खाद बरती ही जाती रही है। इसका मतलब यह नहीं कि कोई ऐसी नई वैज्ञानिक खोज नहीं की जा सकती जिसको बरत कर पौधों के पोषण के लिए हवा में पाई जाने वाली नाइट्रोजन को सीधे बरतना संभव बनाया जा सके। ऐसी खोज होने पर पश्चिमी सभ्यता में विकसित रासायनिक खाद की तकनीक गैर—प्रासंगिक हो जाएगी। विज्ञान को खुद अपने तरीके से चलाने का दम हो और अपनी सभ्यता से पाई सही दृष्टि हो, तो प्राकृतिक और मानवीय विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में ऐसी अनेक नई खोजें होती ही चली जाएंगी।

◆◆◆

# स्वदेशी और भारतीयता

स्वदेशी की पुनर्प्रतिष्ठा के द्वारा भारतवर्ष फिर से सबल सशक्त तेजस्वी राष्ट्र बन कर समकालीन विश्व में स्वधर्म को निभाए, यह आकांक्षा देश के अधिकांश लोगों की है, ऐसा मैं मानता हूँ। यद्यपि पिछले ४०–४५ बरसों में हम जिस रास्ते पर चले, वह तो हमें स्वदेशी से दूर ही ले गया।

स्वदेशी पर चर्चा करने से पहले मैं देश के एक दूसरे पक्ष की ओर आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ। यह पक्ष भी स्वदेशी के ह्रास से ही जुड़ा दिखता है। आज हमारे राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग ऐसा आचरण कर रहा है कि उसे देखते हुए स्वभाव, स्वधर्म, मर्यादा और शील की बातें, वागाडम्बर–सी लगती हैं।

हमारे देश के लगभग हर हिस्से में भांति–भांति के भारतीय पुलिस बल, दशकों से, प्राय: आये दिन, भारतीय नर–नारियों की हत्या, मानमर्दन, बलात्कार और दुर्व्यवहार करते रहते हैं। उसे देखते हुए लगता है कि यह सब भारतीय राज्य के शीर्षस्थ अधिकारियों और प्रमुख राजपुरूषों की इच्छा और सहमति से ही होता है।

उत्तर प्रदेश में मुजफ्फरनगर के पास अभी हिमालय की हमारी अनगिनत बहनों–बेटियों के साथ जो बलात्कार और दुर्व्यवहार हुआ तथा वहाँ के लोगों का संहार जिस तरह से किया गया, वह भारतीय पुलिस–बल के अब तक के आचरण में एक नया ही लक्षण है। उत्तर प्रदेश में मेरठ के पास तैनात पुलिस बल की इस नई बटालियन को शायद

*(यह लेख अक्टूबर १९९४ में इन्दौर में विद्यार्थी परिषद् के सदस्यों को दिये भाषण का लिखित रूपान्तरण है)*





आचरण में यही नयापन सूझा कि वह अमर्यादा और अनाचार की अब तक की पुलिस कार्यवाहियों की सीमाओं का भी अतिक्रमण कर डाले।

अपने अनाचार के पक्ष में हमारे राज्य के अधिकारी प्राय: कानून व्यवस्था की स्थिति अनियंत्रित होने, या अनाचार का लक्ष्य बने लोगों द्वारा कोई जघन्य कार्य किए जाने का कारण गिनाते रहते हैं। किन्तु भारतीय राज्य को और उसके नीति–निर्देशकों, मार्गदर्शकों तथा कार्यपालिका के लोगों को भारतीय स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों के संहार, शारीरिक दुर्व्यवहार और बलात्कार का अधिकार तो उस स्थिति में भी नहीं है, जबकि वे भारतीय जन कोई जघन्य कार्य कर रहे हों, याकि ऐसे किसी कार्य में लिप्त हों, जिन्हें राज्यकर्ता देशभक्तिपूर्ण नहीं मानते। क्योंकि वैसी स्थिति में भी उन कार्यों के लिए समुचित दंड की अन्य व्यवस्थायें हैं। भारतीय पुलिस–बल द्वारा भारतीयों की हत्या या बलात्कार किए जाने की तो उस स्थिति में भी कोई व्यवस्था नहीं है।

बलात्कार और वध के ये जो अत्याचार हमारे पुलिस बलों से होते हैं, वैसे अत्याचार तो निरंतर चलने वाले युद्ध की अवधि में भी नहीं किए जाते। अंग्रेजों ने यहां आने के आरंभिक १०० वर्षों में, भारत के उत्पीड़न, दमन और भारत–विजय के अपने अभियान में, १७५० से १८६० और उसके बाद तक, देश भर में, ऐसे ही अत्याचार अधिक व्यापक स्तर पर अवश्य किए थे।

लेकिन १९४७ के बाद भी भारतीय राज्य और उसकी सरकारें, आतंकवाद से लड़ने, सार्वजनिक सुरक्षा, भीड़ पर नियंत्रण, आदि के नाम पर उन सौ वर्षों की ब्रिटिश बर्बरता को ही दुहराते रहेंगे, यह आशंका तो हम सबको कभी भी नहीं थी।

भारतीय राज्य और उसके राजनैतिक तथा प्रशासनिक सेवकों के ऐसे आचण को रोकना अतिआवश्यक है। इसके लिए तत्काल समुचित प्रबन्ध बने तभी ऐसे आचरण रुक सकेंगे।

यदि हम एक स्वस्थ देश होते, जहाँ सामान्य रूप में आचरण के प्रतिमान प्रतिष्ठित होते, तो मुजफ्फरनगर जैसे बलात्कार कांड की भनक लगते ही भारत सरकार तत्काल पदत्याग कर चुकी होती और भारतीय राज्य ने आवश्यक चुस्ती के साथ ऐसे प्रदेश के मुख्यमंत्री और पुलिस महानिदेशक सहित उन सभी लोगों को बन्दी बनाकर, वैधानिक प्रक्रिया तत्काल आरंभ कर दी होती जो लोग इस तथा अन्य दुष्कर्मों के लिए उत्तरदायी हैं।

परन्तु ऐसा तो कुछ हुआ नहीं। ऐसी स्थिति में स्वदेशी शील, व्यवहार और स्वधर्म

की पुनः प्रतिष्ठा कैसे संभव होगी, यह विचारणीय है।

स्वदेशी और भारतीयता की प्रतिष्ठा के लिए जहाँ प्रबल भावना का महत्व है, वहीं उसकी प्रतिष्ठा आज कैसे संभव है, इसकी समझ और उसे प्रतिष्ठित कर सकने की शक्ति की भी साधना आवश्यक है।

## दो

स्वदेशी अत्यंत प्राचीन अवधारणा है। शायद जब से धरती में जीवन है, तभी से स्वदेशी का भाव और व्यवहार भी है। शायद स्वदेशी ही जीवों के व्यवहार की सहज प्रवृति है। सभी मनुष्य–समाज तथा सभी प्राणी समाज सहज ही स्वदेशी व्यवहार करते हैं क्योंकि, जैसी कि महात्मा गांधी ने १४ फरवरी १९१६ को मद्रास में ईसाई मिशनरियों के एक सम्मेलन में दिए गए अपने भाषण में स्वदेशी की परिभाषा की थी – 'स्वदेशी वह भावना है, जिससे कि हम आसपास के परिवेश से ही अपनी अधिकतम आवश्यकतायें पूरी करते हैं और उनसे ही अधिकाधिक व्यवहार संबंध रखते हैं तथा स्वयं को उनका सहज अभिन्न समझते हैं, न कि दूरस्थ लोगों और वस्तुओं से स्वयं को जोड़ने लगते हैं। स्वदेशी की यह भावना जब होगी तब हम अपने पूर्वजों के धर्म को ही आगे बढ़ायेंगे, न कि किसी अन्य धर्म को अपनाने लगेंगे। अपने धर्म में जो वास्तविक कमी आ जाएगी, उसे सुधारेंगे। राजनीति में हम स्वदेशी संस्थाओं का ही उपयोग करेंगे और उनकी कोई सुस्पष्ट कमियां होंगी तो उन्हें दूर करेंगे। आर्थिक क्षेत्र में हम आसपास के लोगों तथा स्वदेशी परम्परा और कौशल द्वारा उत्पादित वस्तुओं का ही उपयोग करेंगे और उन्हें ही सक्षम तथा श्रेष्ठ बनायेंगे।'

महात्मा गांधी द्वारा की गई स्वदेशी की इस परिभाषा को शायद आज और अधिक स्पष्ट करना पड़े या शायद उसे कुछ परिवर्तित या परिमार्जित परिष्कृत करना पड़े। जो भी हो, इस पर गहरे विचारपूर्वक निश्चय करने की आवश्यकता है।

स्वदेशी की भावना का उपयोग १७ वीं १८ वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में भी किया गया। तब अंग्रेज व्यापारी बड़े व्यापारिक लाभ के लिए भारतीय वस्त्रों को इंग्लैण्ड तथा यूरोप में ले जा रहे थे और वहां के बाजारों में भारतीय वस्त्र छा से गए थे। इंग्लैण्ड के बुनकरों और ऊनी तथा सन से बने वस्त्र उद्योग के बन्य शिल्पियों ने इसका विरोध किया और अपने द्वारा स्वदेशी वस्त्रों का ही धंधा किए जाने पर बल दिया और दवाब डाला।





भारत में १९०५ ई० में स्वदेशी का एक सशक्त आंदोलन उभरा जो बंगाल के विभाजन के विरोध में उठा था। इस स्वदेशी आंदोलन की प्रमुख प्रेरणा स्वामी विवेकानन्द थे और इसके सर्वाधिक सक्रिय नेताओं में थे श्री अरविंद घोष।

फिर कर्मवीर महात्मा गांधी जब जनवरी १९१५ से भारतीय सार्वजनिक जीवन में आये, तब से स्वदेशी के भाव और विचार में पुनः वेग आया। लगभग तीस–पैंतीस बरस तक स्वदेशी भारतीयों का मंत्र बना रहा और स्वदेशी, स्वराज तथा स्वधर्म की प्रतिष्ठा भारत के राष्ट्रीय जीवन के लक्ष्य से दिखने लगे।

आज यदि उस स्वदेशी के भाव और विचार को फिर जागृत करना, संगठित करना और प्रबल बना कर राष्ट्रीय जीवन–व्यवहार का उसे स्वभाव बनाना है तो स्वदेशी की परिभाषा और स्वरूप पर फिर से और अधिक विचार विमर्श तथा गहराई से मनन करना होगा। समकालीन विश्व संदर्भों को जानते तथा स्मरण रखते हुए उसकी संभावनायें देखनी समझनी तथा जाँचनी परखनी होंगी और उन शक्तियों को भी पहचानना होगा जो कि स्वदेशी और भारतीयता की पुनर्प्रतिष्ठा कर सकेंगी या कि उसका माध्यम और वाहन बनेंगी।

## तीन

बाहर से कहाँ से, क्या–क्या और कहाँ तक सीखना और लेना है यह विचार भी स्वदेशी का अभिन्न अंग है।

यों तो संसार भर में लोग एक दूसरे से सीखते ही रहते हैं। ऐसा कहा जाता है कि यूरोप ने छपाई की कला और विधि, नाविकों का कम्पास और उसकी प्रयोग–विधि, बारूद बनाने का शास्त्र और विधि तथा कागज़ बनाने की विधि १३वीं, १४वीं शताब्दी में चीन से सीखी। इसी तरह चेचक का टीका ब्रिटेन में पहली बार १७२० में तुर्की से सीख कर लाया गया। बाद में भारत से उन्होंने चेचक के टीके की अधिक परिष्कृत और उन्नत विधि सीखी। आधुनिक शल्य चिकित्सा का उद्गम् भी भारतीय चिकित्सा विज्ञान से जुड़ा है। १७९०–१८१० के बीच, विशेषतः पुणे क्षेत्र से, अंग्रेजों व यूरोपियों ने यह विज्ञान सीखा।

बढ़िया लोहा और इस्पात बनाने की तकनीक भारत में प्रचलित थी। संभवतः उससे ब्रिटेन के लोहे और इस्पात उद्योग ने १९ वीं शताब्दी में बहुत कुछ सीखा।

जापान ने २० वीं शताब्दी के आरंभ में पश्चिमी व्यवस्थाओं, तकनीकों और उत्पादनों का अपने ढंग से गहराई से निरीक्षण किया। ऐसा कहा जाता है कि १९१० के लगभग जापान ने अमेरीका से बीस रेलवे इंजिन खरीदे। इनमें से शायद एक का ही उपयोग कर जापान ने उसकी विधि को सीख समझ लिया। बताते हैं कि जब से २० इंजिन जापान पहुँचे तो जापानियों ने उसमें से एक इंजिन को पूरी तरह से खोल डाला और उसके सब कलपुर्जे भलीभांति देख–समझ तथा जाँच परख लिये और फिर उसी रूप में उन्हें जोड़ दिया।

अत: एक बार हम यदि किसी तकनीक को, जो हमें अपने अनुकूल लगती है, आत्मसात् कर लेते हैं और उसे अपने अनुकूल ढाल लेते हैं तो फिर कोई भी बाहरी तकनीक शायद स्वदेशी सी ही बन जाती है। क्या स्वदेशी की धारणा में ऐसा कुछ समायोजन करने योग्य है? जो भी हो, इस विषय में बहुत गहराई से और बड़ी सावधानी से छानबीन कर ही किसी निश्चय पर पहुँचना होगा।

परन्तु हमारी समकालीन प्रवृत्तियाँ तो स्वदेशी और भारतीयता की दिशा से विपरीत दिशा में ही चलती दिख रही है। यह तो है कि दिल्ली में बाबा खड़कसिंह मार्ग में हमें देश में बनी कलाकृतियाँ व देसी शिल्प वाली वस्तुयें मिल सकती हैं। बम्बई, मद्रास, कलकता जैसे शहरों में भी ऐसी जगहें हैं। लेकिन भारत के ५ लाख से भी अधिक गांवों, कस्बों और जिला केन्द्रों के बाजारों में तो सामान्य देसी वस्तुएँ भी दुर्लभ ही हो चली हैं। भारतीय सामग्री से बनी, भारतीय शिल्पियों द्वारा, भारतीय शिल्प परम्परा और भारतीय रूपाकृतियों में बनी वस्तुएँ तो हमें प्राय: अपने बाजारों में नहीं दिखती।

आटे की हाथ चक्की, तेल पिराई की घानी, गन्ना पिराई की हाथ वाली मशीनें, मिट्टी के घड़े और पत्तल दोने आदि तो अब हमारे सामाजिक जीवन में प्रतिष्ठा की चीजें नहीं रहे और उनका धीरे–धीरे लोप ही हो चला है। १९२० से चली खादी भी अब कम ही हो रही है। उसके लिए कपास मिलना ही कठिन हो गया है। वैसे ही जैसे कि पिछले १००–१५० वर्षों में लोहा बनाने वालों के लिए लोहा बनाने के पत्थर का मिलना असम्भव कर दिया गया था। गौ–वंश के प्रति श्रद्धा भाव तो अब भी है, परन्तु गौवंश निरंतर घट रहा है और उस पर हमारे सभ्य समाज में कोई बैचेनी या चिन्ता नहीं दिखाई पड़ती। हमारे भोजन की सामग्री भी आज अधिकतर तो गैर भारतीय विज्ञान, प्रौद्योगिकी और उत्पादन प्रक्रिया के द्वारा ही तैयार की जाती है। यहाँ तक कि छाछ तक खाते–पीते घरों मे भी दुर्लभ हो चला है।

तब ऐसी स्थिति में स्वदेशी की भावना का प्रसार किन शक्तियों के बल पर होगा,



यह प्रश्न स्वाभाविक है। यह विचार भी अपेक्षित है कि क्या स्वदेशी में यह ह्रास अथवा स्वदेशी की यह उपेक्षा अंग्रेजी काल से शुरू हुई या पहले से? दिखता तो यह है कि अंग्रेजों से पराजय से पहले से भी हमारे शासक समूहों और सम्पन्न जनों में स्वदेशी का महत्व स्थान–स्थान पर घटने लगा था। दिल्ली और बहमनी के इस्लामी शासकों के आधिपत्य वाले भारतीय क्षेत्रों के असर से सन् १६०० के आसपास, मराठा शासकों और मराठा कुलीनतंत्र में फारसी भाषा और वेशभूषा तथा तौर–तरीकों का प्रभाव छा गया सा दिखता है। परन्तु फिर शिवाजी के समय मराठा क्षेत्र में स्वदेशी का उभार आ गया था, ऐसा कहा जाता है। जब वहाँ फारसी मुहावरों आदि का प्रयोग भी घटा। लगता है कि १५५० से १७५० के बीच देश के विभिन्न हिस्सों में भी इसी तरह स्वदेशी का गिराव व उभार आता रहा।

१८०० तक हम ब्रिटेन से हार चुके थे और ब्रिटेन का कब्जा पूरे भारत पर होता चला गया। इस हार से ब्रिटेन और यूरोप के प्रति अधीनता का भाव भी बढ़ा। १८३० में ब्रिटिश गवर्नर जनरल बैंटिक इस पर संतोष व्यक्त करते हुए कहते हैं कि 'सम्पन्न और प्रतिष्ठित भारतीय अब पश्चिमी शिष्टाचार तथा व्यवहार की विधियाँ अपनाने लगे हैं और भिक्षुकों, सन्यासियों और ब्राह्मणों को दान देना छोड़ रहे हैं। अब उसकी जगह वह धन यूरोपियों का आडम्बरपूर्ण ढ़ंग से मनोरंजन करने में लगाया जाने लगा है।'

संभवत: बैंटिक का निरीक्षण ठीक ही था। संपन्न भारतीय जन तब तक स्वदेशी तौर–तरीके छोड़ने लगे थे। यह सब क्रमश: बढ़ता गया।

कुछ वर्ष पहले मैं हरिद्वार के किसी पंडे की पुरानी बही पलट रहा था। मैंने देखा कि उसमें अच्छी सुस्पष्ट अंग्रेजी में चार–पांच पंक्तियाँ लिखी हैं और १८९५ की वह प्रविष्टि मेरे ही कस्बे के किसी निवासी की थी। बाकी बही हिन्दी में थी।

१८९१ से १९३१ के बीच के, भारतीय जनगणना के अंग्रेजों द्वारा तैयार आँकड़े उपलब्ध हैं। उनमें शिक्षा के बारे में चार मुख्य श्रेणियाँ हैं:–

१. कुल निरक्षर, २. कुल साक्षर, ३. देसी भाषा में साक्षर और ४. अंग्रेजी में साक्षर। जनगणना के ये आँकड़े दिखाते हैं कि तब भारत के बहुत से नगरों व क्षेत्रों में देसी भाषाओं में साक्षरता का जो प्रतिशत है, वह अंग्रेजी में साक्षरता के प्रतिशत से केवल चार गुना है। बाकी क्षेत्रों में यह प्रतिशत आठ गुना के लगभग है। यह तो होगा कि देसी भाषाओं में किसी को साक्षर, इन जनगणनाओं में, तभी लिखा गया हो, जब वह स्कूली प्रमाण–पत्र दिखाए, इसीलिए शायद देसी भाषाओं में साक्षरता का प्रतिशत अंग्रेजी साक्षरता से केवल

चौगुना या आठ गुना दिखता है। भारतीय भाषाओं की पढ़ाई में कमी का मुख्य कारण पूरे देश में चलाई जा रही ब्रिटिश नीति ही होगी।

प्रत्येक भाषा एक विशद अर्थ–परम्परा, दर्शन–परंपरा और विचार परंपरा की अभिव्यक्ति होती है। जब हम विदेशी भाषा को अपनाते हैं तो प्रायः स्वयं को और विश्व को, व्यक्ति, समाज, संस्थाओं, मान्यताओं तथा लक्ष्यों, रूचियों, आदर्शों, आदि को भी हम उसी भाषा परंपरा और संस्कृति पंरपरा से देखने लगते हैं।

इसलिए न केवल उत्पादन और वस्तु निर्माण के क्षेत्र में स्वदेशी का ह्रास हमारे यहाँ हुआ है वरन् दर्शन, समाज चितंन, विधि–विधान, राजनीतिशास्त्र, आत्मचिंतन, शिक्षा, आर्थिक–चिन्तन – सभी क्षेत्रों में हम यूरोपीय बुद्धि से शासित हो चले हैं। हमारी जो आत्मछवि है, वह भी यूरोपीय 'इंडालॉजी' के विद्वानों द्वारा गढ़ी गई छवि है, जो उन्होंने अपने ही प्रयोजन से रची थी। हमारे जैसे पढ़े–लिखे आज अपने स्वभाव, धर्म, धर्मशास्त्र, शिल्पशास्त्र आदि को भी यूरोप द्वारा सिखाई गई आत्मछवि के माध्यम से ही देखने लगे हैं।

## पाँच

तो क्या स्वदेशी के संस्कार बचे ही नहीं हैं? ऐसा नहीं है। निजी जीवन में और अपनों के प्रति व्यवहार में हमारे साधारण जन की स्वदेशी भावना झलकती है। संभवतः इसे ही भारतीयता कहा जा सकता है।

भारतीयता हमारे निजी जीवन–व्यवहार और हमारी धार्मिक व्यवस्थाओं में अभी भी, चाहे कुछ प्राणहीन रूप में ही सही, जीवित है। व्रत–उपवास आदि में क्या खाएँ, क्या न खाएँ, पूजा–अर्चना में किन वस्तुओं का, किस तरह के पेड़ों–पत्तियों और फूलों का प्रयोग करें, किनका न करें, विवाह आदि में कैसी व्यवस्था तथा व्यवहार करें, इन सबका विचार करते समय हमारे जो संस्कार उभर आते और व्यवहार में व्यक्त होते हैं, वे हमारे भीतर भारतीयता के संस्कारों की गहराई के सूचक हैं। भोजन, वस्त्र, औषधि आदि में ऐसे भारतीय संस्कार अभी पचास वर्ष पूर्व तक व्यापक और प्रबल दीखते थे। आज वे बहुत कम हो चले हैं। तो इससे शायद यह निष्कर्ष भी निकल सकता है कि सुव्यवस्थित प्रयास से वे संस्कार फिर से प्रबल बनाए जा सकते हैं।

भारतीयता पर अधिक कुछ कहने का अधिकारी तो मैं नहीं हूँ किन्तु ऐसा स्पष्ट दिखता



है कि भारतवर्ष में तथा उससे जुड़े उत्तरी, पूर्वी और दक्षिण–पूर्वी एशियाई देशों में कुछ विशेष लक्षण और प्रवृत्तियाँ है। उन्हें हम भारतीयता के रूप में पहचान सकते हैं। पश्चिम से उनका स्पष्ट भेद भी हम भलीभांति देख सकते हैं। पश्चिम से मेरा आशय यूरोप, रूस और अमरीकी महाद्वीप तथा अरब क्षेत्रों से है।

भारतीयता के तथा भारत से जुड़े क्षेत्रों के मुख्य लक्षण समान हैं। एक तो चराचर की पवित्रता का सिद्धांत है। सत्य और ऋत का अंग है। इस में यह दृष्टि है कि जीवमात्र पवित्र है और आदर–योग्य है। इनमें व्यावहारिक स्तर पर कुछ घट–बढ़ या तारतम्य तो रहता है। पर जीवन का कोई भी रूप, जीवन के दूसरे रूपों से इस अर्थ में श्रेष्ठ नहीं है कि एक रूप की रक्षा के लिए दूसरे रूपों को समाप्त कर दिया जाय तो पूर्ण अधीनता की दशा में ले आया जाय।

इसके साथ ही हमारे यहाँ जीवन को केवल मनुष्य में या कि कुछ प्राणियों में ही सीमित कर नहीं देखा गया। बल्कि उसे सर्वत्र देखा गया। समग्र सत्ता ही जीवन है। नदी–पर्वत, सागर, वृक्ष–वनस्पति सभी समग्र सत्ता के महत्वपूर्ण अंग है। मनुष्य की अपनी सत्ता इसी समग्र सत्ता का अभिन्न अंश है। मनुष्य अन्य जीवन–सत्ताओं से कुछ नितान्त भिन्न या विरोधी या श्रेष्ठतम जीव नहीं है।

मनुष्य की श्रेष्ठता का जहाँ कहीं महाभारत आदि में बखान है भी, तो वह इसी अर्थ में कि मनुष्य को इस समग्र सत्ता का सम्मान् करना है, इसके प्रति अपना कर्तव्य निभाना है, उनका संरक्षण ही नहीं बल्कि उनके प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह, उनसे मनुष्य जो लेता है उसे लौटाना, ऋण–शोधन करना है। यह कहीं नहीं कहा गया है कि मनुष्य श्रेष्ठ है, इसलिए शेष सब उसके भोग–साधन हैं और वह उन सबके चाहे जैसे उपयोग का अधिकारी है। मनुष्य का गौरव सबके प्रति मैत्री, प्रेम तथा करूणा की अभिव्यक्ति और अनुभूति में ही है। हमारी चाक्रवर्त्य की धारणा तक में दूसरों के समक्ष बीरता के प्रदर्शन का भाव ही प्रधान है। उनके गौरव को समाप्त करने का नहीं। दूसरों के अपने संस्कृति–रूपों को समाप्त करना तो चाक्रवर्त्य में भी विहित नहीं है। हमारी जीवन शैली, जीवन दृष्टि और हमारी सामाजिक सांस्कृतिक–राजनैतिक संस्थायें सभी का मुख्य आधार परस्परता, स्वभाव में प्रतिष्ठित स्वधर्म, स्वाधीनता तथा अभय रहा है। इसलिए हमारे यहाँ पूरे सामाजिक संगठन में ऐसी ही यवस्थायें थीं।

भारत में भूमि हो, जल हो, या वन, उस पर वहाँ के निवासियों का ही स्वामित्व रहा है। वनों पर वन के जानवरों घुमन्तू जातियों तथा वनवासियों का अधिकार भारत में परंपरा

से मान्य रहा है। हमारे सामाजिक संगठन में यह व्यवस्था रही कि एक कुल–समूह या जाति समूह का एक ही तरह के प्राकृतिक साधन–स्रोत से विशेष संबंध रहे – किसी का भूमि से विशेषकर, किसी का पशुओं से, किसी का पक्षियों से, किसी का वनों से, किसी का जल से। फिर इनमें भी व्यवस्थित वर्गीकरण रहे। व्यापक सामाजिक विधि निषेध थे, जो सर्वमान्य थे। हर समूह की सामाजिक उपभोग की मर्यादाएं निश्चित थीं। वनों के बारे में भी यह बात लागू होती है। चराई का समय, शिकार का समय, वनस्पतियों, जड़ी–बूटियों को तोड़ने या प्राप्त करने का समय सदा प्राकृतिक व्यवस्था, ऋतु–चक्र और प्रकृति के अपने नियमों की समझ द्वारा निर्धारित मर्यादाएं थीं। पवित्र माने जाने वाले पेड़ों और प्राणियों का शिकार भी निषिद्ध था। उनके जलाशय पवित्र घोषित होते थे उनके न शिकार संभव था, न ही उनका कोई निजी उपयोग। हर गांव के पास अपना सार्वजनिक चरागाह और अपना सामुदायिक वन–क्षेत्र या वृक्ष–क्षेत्र होता था। इन सामाजिक विधि निषेधों का उल्लघंन राज्य–तंत्र के लिए असंभव था। ऐसा राज्य तंत्र अधममय मानकर बहिष्कृत और समाप्त कर दिया जाता था। मर्यादा का महत्व और व्यापक धर्म से अनुशासित स्वधर्म की प्रतिष्ठा भारतीय जीवन दृष्टि का केन्द्रिय भाव है। राजधर्म, लोकधर्म का एक अंग है। लोक और लोकधर्म व्यापक है। राज्य, लोक से अनुशासित होता हैं। मनुष्य समेत सभी जीव सत्ताएं लोक से ही अनुशासित रहती है। लोक का अर्थ मानव समाज मात्र नहीं है। वस्तुतः 'मेनकाइंड' के अर्थ में मानव समाज भारतीय जीवन दृष्टि की कही धारणा ही नहीं रहा। क्योंकि प्रत्येक मानव समूह अपने जनपद और अपने परिवेश का ही सहज तथा अभिन्न अंग है। इसलिए किसी भी जनपद के मनुष्य का उस जनपद के अन्य जीवों, पशु–पक्षियों, जलचर–थलचर–नभचर सभी जीवन जन्तुओं, वृक्ष–वनस्पतियों, औषधियों, आकाश, नदी–पर्वत, तालाब–झरने, कुएं–बावड़ी, फल, फूल, अनाज आदि से अधिक घनिष्ठ संबंध और आत्मीयता है, बनिस्पत बहुत दूरवर्ती किसी अन्य मानव समूह से। इस प्रकार मध्य देश के निवासी मनुष्यों के सहज आत्मीय तो मध्य देश के ही जीव जंतु तथा चराचर जगत हैं न कि संयुक्त राज्य अमरीका या और किसी अतिदूरवर्ती देश के मनुष्य। कुछ अंश तक तो यह रिश्ता आज के संसार के दूसरे देशों में भी व्यावहारिक रूप में चलता ही है।

चराचर जीवों और जीवन से आत्मीयता के ये संस्कार अभी भी हमारे व्यवहार में प्रकट होते हैं। चीटियों, कौओं, कुत्तों के लिए अंश निकालने, बंदरों को चने आदि खिलाने, गौओं की सेवा करने, सांड़ आदि को मुक्त छोड़ने, मछलियों को खिलाने, नदियों के प्रति



आदर और श्रद्धा का भाव, तालाब, कुंए, बावडियाँ बनवाने को पुण्य कर्म मानना, चिड़ियों तथा विविध पक्षियों को चुगने के लिए दाने डालना; शेर, मगर जैसे भंयकर माने जाने वाले जीवों के लिए भी गहरी आत्मीयता तथा परस्परता का भाव रखना और उनसे किसी अतिरंजित भय को न पालना, सांप को दूध पिलाना, शादी–विवाह में नदियों–बावड़ियों–कुओं आदि को पूजना और न्यौतना–ये सब इसी भारतीयता जीवन दृष्टि के अभिन्न अवयव हैं।

इस भारतीयता में मनुष्य कोई सृष्टि का केन्द्र नहीं है। सहज अंश है। समस्त जीवन–रूप पूज्य है, पवित्र हैं और जीवन रूपों की विविधता सहज है, रक्षणीय है तथा सम्मान योग्य है। मानवीय स्वभाव का वैविध्य जीवों के वैविध्य की ही तरह सहज और अनिवार्य है। जनपदों और कुलों के आधार पर मनुष्यों की सामाजिक पहचान ही स्वाभाविक है और अपने परिवेश से अभिन्नता की अनुभूति भी उतनी ही स्वाभाविक है। इसी कारण हमारे यहाँ ऐसी कोई परंपरा कभी नहीं रही कि समस्त मनुष्य किसी एक मानव–जाति के केन्द्रीय संगठन से अनुशासित और संचालित होने योग्य है, और मानव का संगठन हमारे यहाँ इस दृष्टि से तो कभी सोचा ही नहीं गया कि प्रकृति और प्राणिमात्र उसके शत्रु हैं और उनसे उसे अपनी रक्षा करनी है।

## छः

इसके विपरीत यूरोप की, ईसाइयत की विश्वदृष्टि में मनुष्य ही केन्द्रीय सत्ता है। इस्लाम की दृष्टि भी कुछ ऐसी ही है। वहीं समस्त सृष्टि का केन्द्र है। यह सम्पूर्ण जगत, जीव–जन्तु और वृक्ष वनस्पतियाँ उसी के भोग के लिये और उसी की सेवा में हैं । और मनुष्य सम्पूर्ण प्रकृति का तथा समस्त जीवों का स्वामी और नियन्त्रक है तथा वह नियन्त्रक बने, यही वहाँ स्वाभाविक माना गया है। यूरोपीय सम्पर्क जब विश्व के भिन्न–भिन्न देशों में बढ़ा और जब वह धीरे–धीरे प्रकृति का स्वामी स्वयं को मानने लगा, तबसे ही आधुनिक पश्चिमी मनुष्य ने मानव जाति की धारणा रची है। मानव–जाति की यह धारणा मनुष्य को प्रकृति के विरुद्ध तथा अन्य सभी जीवों के विरुद्ध रखकर देखती है। इस धारणा को मान लेने के बाद यही स्वाभाविक है कि भिन्न–भिन्न कसौटियों के आधार पर मानव–जाति की विविध श्रेणियाँ बनाई जायें और इस श्रेणी–क्रम में जो लोग ऊँचे सोपान पर हैं, उन्हें शेष सबके जीवन को नियन्त्रित करने का स्वाभाविक अधिकार मान्य किया

जाये। इसे ही साकार करने के लिये दर्शन, साहित्य विज्ञान और प्रौद्योगिकी की ऐसी दिशाएँ और ऐसे संस्थान विकसित किये गये और उन्हें ऐसी दिशाओं में नियोजित किया गया तथा उनकी ऐसी व्याख्याएँ की गई, जिससे कि इस मानव–केन्द्रित दृष्टि की निर्विवाद प्रतिष्ठा हो और अन्ततः विकसित उच्च श्रेणी के यूरोपीय या पश्चिमी मनुष्य के लक्ष्यों की रक्षा और पोषण हो सकें।

यूरोपीय सफलता से चकाचौंध भारतीय शासक–समूहों, भारतीय राज्य की सेवा के इच्छुक प्रतिस्पर्धी समूहों तथा सम्पन्न लोगों में भी ये यूरोपीय मानव–केन्द्रित मान्यताएँ आज एक सीमा तक पैठ चुकी हैं। हम इस रास्ते पर कहाँ तक, कितना और कैसे चल पायेंगे, यह पूरी तरह सोचने समझने का समय निकाले बिना, ये मान्यताएँ अपना ली गई हैं। इसी के प्रभाव से भय की और दूसरे को शत्रुभाव से देखने की मनोवृत्तियाँ भी इन समूहों में बढ़ती जा रही है। हमारा पुलिस बल भी समाज को भयभीत कर ही व्यवस्था की रक्षा कर पाना सम्भव समझने लगा है। इसलिए अपने संस्कारों के कारण वह अपने समाज का प्रत्यक्ष दमन–उत्पीड़न शायद उतना अधिक नहीं भी कर पाता हो, परन्तु उसके किस्से हवा में फैले और समाज के सर्वसाधारण लोग उससे आतंकित/भयभीत रहे, यह प्रयास उसका प्रायः दिखता है। राज्य–संस्था की दंड–शक्ति का लक्ष्य केवल दुष्टता का त्रास देना होता है  जिससे समाज में स्वधर्म–पालन के लिए अभय और आत्मीयता का परिवेश सुद्रढ़ बने। समाज में भय का संचार करने वाला या उसमें फूट और भेद–भाव बढ़ाने वाला राज्य तो हमारे यहाँ कुराज ही कहा गया है। आततायी राज्य को तो समाज आत्मीय भाव से देख नहीं पायेगा। इसलिए भारतीय राज्य के सेवकों तथा सेवा के इच्छुक प्रतिस्पर्धियों को भी राज्य और समाज के रिश्तों में परस्पर भय, अलगाव, अविश्वास तथा विरोध भाव को बढ़ावा देना त्यागना चाहिए।

हमें कौन सी दिशा अपनानी है, यह निश्चय तो हमें ही करना पड़ेगा। प्रमोद और संवेदन शून्यता की अभी की स्थिति तो हमें आत्मक्षय और आत्मविलोप की ही ओर ले जाएगी।

दुविधाग्रस्त मनोदशा में रहकर तो हम कहीं भी नहीं पहुंच पायेगें। गहराई से आत्म–स्मरण और मनन करना होगा, स्पष्ट निर्णय लेना होगा। अगर स्वयं को यूरोपीय सांचे में ही ढालने का हमारा मन बन चुका है, तो उसी दिशा में सुनियोजित प्रयास करें। हो सकता है, हम उसमें सफल होकर ही सशक्त और उन्नत समाज तथा राष्ट्र बना सकें।

लेकिन यह अधिक सम्भव है कि इस दिशा में बढ़ने पर पश्चिम और शेष विश्व पर





हमारी निर्भरता आज जैसी ही बनी रहे या बढ़ती जाये तथा हम पश्चिमी जीवन शैली के एक तीसरे दर्जे के अनुयायी ही बने रहें। अपने देश के ८० से ९० प्रतिशत लोगों के प्रति हम अभी की तरह उदासीन बने रहें और उन सब लोगों को घुटघुटकर जीने के लिए विवश करने वाली अपनी वर्तमान जीवनशैली जारी रखें। इससे उनकी घुटन और बढ़ती चली जाये भी तथा हम अपनी लालसाओं में एवं अपने अपेक्षाकृत छोटे पड़ोसियों के साथ अन्तहीन झगड़ों में और भी अधिक उलझते चले जायेंगे।

परन्तु मुझे तो आशा यही है कि जो युवाजन आज यहाँ एकत्र हैं और वे सब भारत के करोड़ों युवा, जो यहाँ नहीं भी हैं, वे ऐसी हीनता, अधीनता तथा पर निर्भरता को उचित नहीं मानते और यह जीवन शैली उन्हें प्रिय नहीं है। और इसलिए मेरा विश्वास है, वे भारत की पुनरर्चना के बारे में विचार, मंथन तथा मनन प्रारम्भ करेंगे जिससे कि भारतीय जीवन की समृद्धि, विशेषता और समस्त जीवन जगत के प्रति आत्मीय तथा सामंजस्यपूर्ण संबंधों वाली जीवन–शैली फिर से साकार हो सके और नये–नये रूपों में अभिव्यक्त हो सकें।

## सात

भारत की प्राचीनता और विविधता भारत के लिये एक बड़ा वरदान ही रही। काल के बहाव में यह अवश्य हुआ होगा कि इस विविधता से भारत में कुछ उलझनें भी पैदा हुई होगी। कुछ विविधाएँ तो काल के प्रभाव से मृतप्राय ही रह गयी होंगी, अवशेषों जैसी।

भारतीय साहित्य मात्रा में तो विराट है ही, इसकी रचना की कालावधि भी सुदीर्घ है। विश्व के और साहित्यों की तरह इसमें भी नयी–नयी कृतियाँ, विचार, व्यवस्थाएँ जुड़ती रहीं और समय–समय पर पहले कही गयी बातें नये–नये ढंगों से कही जाती रही। इस प्रकार के बदलाव सभी क्षेत्रों में मिलेंगे चाहे वह ज्योतिषशास्त्र हो, या आयुर्वेद या राज्य और अर्थनीति या रामायण ही। महर्षि बाल्मिकि की रामायण के बाद अनेकों रामायण रची गयी और उन सबमें अलग–अलग तरह से पुराना कुछ–कुछ बदलता गया और नया कुछ–कुछ जुड़ता गया। भारत की सनातनता एक तरह से भारतीय प्रवाह में रही, उसके ग्रन्थों व स्थिरता में नहीं।

इस्लाम के शासकों, ने, जहाँ–जहाँ उनका कुछ प्रभुत्व रहा, वहाँ भारतीय सनातनता को बांधकर देखने की कोशिश की, जैसा कि विदेशियों को अपरिचित स्थानों, विचारों व

सामग्रियों के साथ, अपनी समझ के लिये करना पड़ता है। उन्होंने भारतीयता को जहाँ–तहाँ बांधना चाहा, उसमें स्थिरता और शिथिलता लानी चाही। लेकिन उनसे यह अधिक नहीं बैठा।

यूरोप और विशेषत: अंग्रेज, इस दिशा में और कार्य में, अधिक तीव्रता से आगे बढ़े। अंग्रेज पूरे भारत को राजनीतिक और आर्थिक तौर पर अपने अधीनस्थ भी कर पाये। अपने राज्य को पक्का करने के लिये उन्होंने भारतीय ग्रन्थों में से वह सब छाँट–छाँटकर इक्ट्ठा किया, जो उनके काम का था और उसे ही ऊपर उछाला। उसी में एक तरह का भारतीय इतिहास रचा गया और भारत की व्याख्याएँ बनाई गईं। ऐसे इतिहासों और व्याख्याओं में सब असत्य या काल्पनिक ही हो, ऐसी बात नहीं है। लेकिन यह सब जो चित्रण किया गया, यह सन्दर्भ रहित हो गया। इसमें भारतीय चित्त, आत्मा और मानसिकता एकदम किनारे रख दी गई। यह चित्रण जो अंग्रेजों द्वारा बना, इससे १८६०–१८७० के बाद भारत में एक बड़ी टूटन पड़ी। धीरे–धीरे सन्दर्भ अदृश्य जैसा हो गया और टूटा और बिखरा भारत हमारे पास रह गया।

स्वराज आने का लक्ष्य यह था कि हम भारत के अपने सन्दर्भ को फिर से पायें तथा बिखरे और रौंदे हुए भारतीयता के लाखों टुकड़ों को भारत के सन्दर्भ से, फिर से जोड़ें। यह काम हम अभी तक नहीं कर पाये हैं। शायद अभी तक हमें यह सूझा भी नहीं है कि इस तरह का सन्दर्भ खोजना और बिखरे टुकड़ों को इससे जोड़ना भी हमारा काम है।

पुराने अवशेषों के अलावा, अब हमारे यहाँ बहुत ही अधिक, पिछले २००–४०० बरस में बनी, व्यवस्थाओं, कानूनों, तन्त्रों, बीमार मानसिकताओं का ढेर का ढेर कबाड़ इक्ट्ठा हो गया है। हमें जीवित रहना है तो इस सब को तो हटाकर कहीं जलाना व दफनाना ही पड़ेगा। तब ही ठीक तरह से सन्दर्भ मिलेगा और जैसा भी जुड़ाव हम आज चाहते हैं, वह बन सकेगा।

◆◆◆

# दासत्व से मुक्ति की राह

अब पिछले एक बरस में अंग्रेजी हुकूमत से पचास वर्ष पहले पाई राजनैतिक स्वतन्त्रता का उत्सव भारत में मनाया गया। उत्सव के शुरू में चार–पाँच दिन तो भारत की लोक सभा व राज्य सभा में इस स्वतन्त्रता की परिभाषा और आधारों को लेकर काफी कुछ कहा गया। भारत के अपने आदर्शों, मर्यादाओं, विज्ञान और तकनीक पर चर्चा रही। वर्ष के अन्त में भारत की अपनी कला से सम्बन्धित उत्सव हुए और इनमें न केवल भारत के कोने–कोने से गान, नृत्य, कथायें सामने आयीं अपितु भारत के पड़ोसी बौद्ध देशों के विद्वानों और कलाकारों ने भी भाग लिया। काशी में रामायण और मध्यप्रदेश में आल्हा–ऊदल प्रमुख रहे और कुछ ही दिन पहले केरल में एक वर्ष का भगवद्गीता का अभियान भी आरम्भ हुआ।

इस तरह का उत्सव मनाना तो ठीक ही है। लेकिन इस पचास बरस की स्वतन्त्रता के बाद अधिकांश लोगों को – शायद जो भारत का तन्त्र चलाने में लगे हैं उनको भी – लगा कि इस पचास वर्ष की उपलब्धियाँ नये भारत को खड़ा करने में या उसका आधार बनने के लिए काफी नहीं हैं। १९४२ में, जब भारत में जोरों से "अंग्रेजो तुम वापस जाओ" कहा जा रहा था, उस समय अंग्रेजी और अमरीकी सरकार की इस विषय में बातचीत चल रही थी कि भारत का क्या किया जाये। अगस्त १९४२ में अमरीका के प्रेसिडेंट रुजवेल्ट का अंग्रेजों को यह सुझाव था कि वे चाहें जो भी कदम भारत के बारे में उठायें, पश्चिमी

*(यह अंग्रेजी लेख "Rebuilding Self Confidence and Prosperity in India" का हिन्दी अनुवाद है जो १४ सितम्बर, १९९८ में लिखा गया था)*

दृष्टि के हक में उन्हें यह सुनिश्चित करना चाहिए कि भविष्य का भारतवर्ष पश्चिम की 'ऑरबिट' में, छत्रछाया में जिये। रुजवेल्ट ने तो यहाँ तक कहा कि भारतवर्ष के लोग 'एशियाटिक' (एशिया के) नहीं कहे जा सकते, वे तो इण्डो–योरोपियन हैं और इसलिए योरोप और अमरीका के करीब हैं यानी सम्बन्धी जैसे हैं।

१९४७ में हम जाने–अनजाने, रुजवेल्ट की इस सोच पर चलने लगे और जैसा पश्चिम चाहता था उसकी 'ऑरबिट' में, छत्रछाया में, रहने लगे। इससे हम देश के और स्वतन्त्रता के ध्येय से तो हटे ही, साथ ही अंग्रेजों द्वारा स्थापित किये शासन व तन्त्र से (जिसमें शिक्षा, सफाई, स्वास्थ्य, ग्राम व नगर रचना, न्यायालय, बैंक, स्टॉक मार्केट, और अन्त में कृषि व पशुपालन भी बँध गया) इस घनिष्ठता से बँध गये कि हम अपने देश के ९०–९५ फीसदी लोगों से भी अलग हो गये। इसका परिणाम यह हुआ कि अब हमारे यहाँ शासन व तन्त्र से जुड़े लोग ही (जिन्हें शासन पालता–पोसता है) पहले दर्जे के नागरिक रह गये, बाकी सब तो, देश में रहते हुए भी, दूसरे दर्जे के बन गये। जो साहस, आत्मविश्वास, देश को बनाने का उत्साह सन् १९४७ से पहले आया था, उस पर पिछले पचास वर्ष में बहुत हद तक पानी फेर दिया। जब १९४२ में रुजवेल्ट ने यह सुझाव दिया कि भारतवर्ष पश्चिमी 'ऑरबिट' (छत्रछाया में) में रहे, तो उनका व अंग्रेजों का शायद ही यह तात्पर्य रहा होगा कि हम उनकी तरह शक्तिशाली, सम्पन्न, व आधुनिक बन जायें। लेकिन फिर जब हमने १९४५–१९४६–१९४७ में उनका ही रास्ता पकड़ा तब भी अगर हमारे में योरोप कैसे बना, इसकी सही समझ व शक्ति होती, तो हो सकता है हम इन पचास बरसों में योरोप व अमरीका जैसे बन जाते – जैसे कि जापान १८८५ से १९३० के दौरान बन ही गया। लेकिन हमारे में ऐसी शक्ति व समझ न तब थी, न अब दिखती है।

आज भारतवर्ष में जो हो रहा है वह तो एक बहुत निम्न स्तर का योरोप व अमरीका का अनुकरण है। योरोप का वैचारिक प्रभाव तो हमारे यहां १८२० से ही शुरू हो गया था; यह क्रमशः बढ़ता गया और १९०० तक देश का राजनैतिक, शैक्षणिक व व्यापारिक नेतृत्व इससे प्रभावित लोगों के हाथों में चला गया। शायद २५–३० बरस (१९१५–१९४५ तक) यह प्रभाव कुछ घटा और दब–सा भी गया। लेकिन १९४५ के बाद पश्चिम की सोच से प्रभावित लोग फिर से आगे आये और १९४७ में उन्होंने ही देश की बागडोर संभाली। वृहत् समाज और उसका नेतृत्व व संचालन करने वाले पीछे खदेड़ दिये गये। अगर उनमें से कुछ राजनीति में रह भी गये तो उनका काम तो केवल हाथ उठाने का रह गया। पिछले





५० बरस में योरोपीय वैचारिक प्रभाव में पड़े लोगों की संख्या व नेतृत्व बढ़ा ही है। केवल उनमें योरोपीय शक्ति व समझ अनेक कारणों से कुण्ठित रह गयी है।

आज तो हम अपने वृहत् समाज व जन मानस को भी पश्चिमी विचार की – विज्ञान की, प्रौद्योगिकी की, व्यवस्थाओं की – जंजीरों से बाँधकर सम्पूर्ण दासत्व की ओर ले जा रहे हैं। योरोप और अमरीका की तो, प्लेटो और अरस्तु के समय से ही, मान्यता है कि दासत्व ही साधारण मानव समाजों के लिये उचित व्यवस्था है। यूनानी और ईसाइयत के विचार से भी कुल प्रकृति – उसके पर्वत, नदियाँ, झरने, समुद्र, वृक्ष, पशु–पक्षी, कीड़े–मकोड़े इत्यादि – मनुष्य के उपयोग के लिये ही बने हैं। मनुष्य उन्हें जैसा चाहे रखे। यूनानियों और यहूदियों के "ओल्ड टेस्टामैंट" के हिसाब से (जिसे ईसाई व इस्लाम दोनों मानते हैं) मनुष्य–मनुष्य में भी फर्क है। कुछ थोड़े ही मनुष्य, मनुष्य माने जा सकते हैं, बाकी तो पशु व शेष प्रकृति के समान हैं। आवश्यकता होने पर राजपुरुष उन्हें बगैर किसी कानूनी व्यवस्था में पड़े, मार सकते हैं – जैसे कि किसी पागल कुत्ते को। पिछले १००–२०० वर्ष की योरोप व अमरीका की समृद्धि व बदलाव के बावजूद भी मूलत: तो योरोप और अमरीका के लोग आज भी दासत्व के स्तर पर ही हैं। अगर ऐसी मूल स्थिति उनकी, है तो फिर बाकी दुनिया के मनुष्यों और दूसरे प्राणियों को तो कभी भी समाप्त किया ही जा सकता है।

ऐसी स्थिति में से हम उबरना चाहते हों तो हमें अपने देश की परम्पराओं, मान्यताओं, विद्याओं और भारतीय स्वभाव के आधार पर नया भारत बनाना शुरू करना चाहिए। अंग्रेजों से मिले तन्त्र व व्यवस्थायें पूरी तरह छोड़ने का हमें शीघ्र ही निश्चय कर लेना चाहिए। और ऐसी योजना बनानी चाहिए कि अधिक–से–अधिक २०–२५ बरस में हम अपने पावों पर खड़े हो जायें; हमारी अपनी व्यवस्थायें पूरी स्थापित हो जायें और अंग्रेजों के दिये तन्त्र व व्यवस्थायें हम ताक पर व पुराने लेखागारों में कभी अध्ययन के लिये रख दें।

हमें सभी बातें नये सिरे से करनी होंगी। हमें ऐसा मान लेना चाहिए कि पिछले २००–२५० वर्ष हमारे लिए विपत्ति के ही रहे हैं और उससे भारतवर्ष में रहने वालों का अकल्याण ही हुआ। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि हमारी शुरुवात १७०० व १७५० में जो था, उसी से होगी। पिछले दो–ढाई सौ वर्ष में हमारे यहाँ जो बदला है, उसमें से शायद कुछ हम अपने काम में ले पाएंगे। आगे भी, बाकी पृथ्वी पर पिछले ५० वर्षों में जो बदलाव आए होंगे, उनमें से भी कुछ हमारे काम के हो सकते हैं। लेकिन बाहर का जो भी हम अपनायेंगे वह हमारे अपने विचारों, आधारों, और स्वभाव के अनुकूल होगा तभी

वह हमारे काम का होगा।

आज सबसे पहले तो हमें अपनी कृषि, वन–व्यवस्था व पशुपालन पर ध्यान देना होगा। ये ही हमारे समाज के मुख्य भौतिक आधार हैं। पश्चिम से आए हुए तरीकों को छोड़कर हमें अपने तरीकों – बीजों, फसलों, सिंचाई–व्यवस्थाओं पर आना होगा और उनमें जो बदलाव आवश्यक हों, वे करने होंगे। हमें अपनी उपज भी बढ़ानी होगी, जैसे कि वह १८०० से पहले होती थी, और यह भी देखना होगा कि देश में कोई भी (मनुष्य, पशु या अन्य जीव–जन्तु) भूखा न रहे। पशुओं और मनुष्यों का भूखा रहना हमारे लिए सबसे बड़ा अभिशाप है।

यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि भारतवर्ष जल्दी–से–जल्दी विदेशों से अनाज, तेल और खाने–पीने के दूसरे सामान लेना बन्द कर दे। हमारे महाद्वीप जैसे देश में सभी कुछ पैदा किया जा सकता है। किसी पदार्थ की कमी होगी तो हमें उस कमी को सहन करना चाहिए। विदेशों को अगर हमारी कुछ पैदावार की विशेष आवश्यकता हो, तो हमें उन्हें कुछ एक फीसदी के करीब तक देना उचित ही है।

भारत केवल कृषि–प्रधान देश नहीं था। पिछले १०–२० वर्षों के अध्ययन ने यह बतलाया है कि १७५० के करीब भारतवर्ष और चीन के क्षेत्र में कुल पृथ्वी का ७३ प्रतिशत औद्योगिक उत्पादन होता था। १८२० में भी यह उत्पादन ६० प्रतिशत तक रहा। सैंकड़ों वस्तुएँ तब बनती होंगी। यह सब हमें दौबारा आज की आवश्यकता के अनुसार स्थापित करना पड़ेगा।

हमारे बच्चों का पालन व शिक्षा पिछले १५०–२०० वर्षों में बुरी तरह से बिगड़ी है। इसे फिर से ढंग से व्यवस्थित करना होगा। गांवों, कस्बों व शहरों के मुहल्लों में नई शुरुआत तो अभी से हो सकती है। इसमें आवश्यक है कि स्थानीय युवा वर्ग का इस काम में सहकार मिले। शिक्षा का रूप क्या होगा, इस पर सोचना और उसको कार्यान्वित करना हमारी दूसरी प्राथमिकताएं हैं। ६ से १२/१३ वर्ष तक की शिक्षा का ध्येय तो यह होगा कि इन वर्षों में हमारे बच्चे सृष्टि, प्रकृति और उसमें रहने वाले सब जीवों से परिचित हो जाएँ, उनका जीवन और स्वभाव समझें, उनसे मित्रता बनाएं, और १२–१३ वर्ष की उम्र में अपने को अपने देश और गांव, नगर इत्यादि का नागरिक मानने लगें, और समाज की वार्ता में बराबर का भाग लेने लगें। जीवन को चलाने का जो भी काम उन्हें करना होगा, वह मुख्यत: तो इसके बाद २–३ वर्ष में सीखा जा सकता है। अगले एक वर्ष में यदि देश की भिन्न–भिन्न भाषाओं में ८–१० पुस्तकें इतिहास, भूगोल, स्थानीय प्रकृति और





दूसरे जीवों इत्यादि पर लिखी जा सकें, तो इस शिक्षा की रूपरेखा बनाने में बहुत सहायक होगी।

अपने पड़ोसियों को भी, जिनके साथ हमारा हजारों वर्षों का घनिष्ठ संबंध रहा है, फिर से समझना जरूरी है; क्योंकि आज हम यूरोप व अमरीका से चलित दुनिया में रहते हैं। इसलिए इनको भी और इनकी मान्यताओं, स्वभाव इत्यादि को भी, समझना हमारे लिए आवश्यक है। वैसे यूरोप और अमेरिका से हम मित्रता रखते हुए भी, उनसे आवश्यक दूरी रख सकें तो वह हमारे लिए ही नहीं सभी के लिए शुभ रहेगा।

यह आवश्यक है कि हम अपने करीब के देशों से – विशेषत: चीन, कोरिया, जापान, थाईलैण्ड, कम्बोडिया, इन्डोनेशिया, वियतनाम, श्रीलंका, नेपाल, म्यांमार (बर्मा), बांग्लादेश, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान – करीबी संबंध दोबारा कायम करें। पिछले ५०० वर्षों में हमारे ये संबंध टूटे और शिथिल हुए हैं। लेकिन इन देशों की सोच व स्वभाव हमसे बहुत मिलता–जुलता है। यहाँ तक कि इन सब देशों में गौतम बुद्ध का प्रभाव भारत से गया। उसी समय से या उससे भी पहले से इनमें से अधिकांश देशों में रामायण व महाभारत का प्रसार भी रहा और इन सब में अयोध्या नाम के नगर तो मिलते ही हैं, मथुरा नाम के भी मिलते हैं। अयोध्या व मथुरा के नाम के नगर तो तकरीबन १५०० तक इन देशों की राजधानियाँ हुआ करती थीं।

अपने को समझने और पहचानने के लिए अपने पुराने समाज और जीवन के भौतिक तथ्य जानने भी आवश्यक हैं। यह काम शीघ्र ही विद्या–केन्द्रों के द्वारा, पी–एच.डी., व इसी तरह के अध्ययन कार्यक्रम में होने चाहिए। अगले ६–८ महीने में अगर देश के १०–२० क्षेत्रों, जिलों इत्यादि में ऐसी खोज शुरू की जा सके तो ५–७ वर्ष के अन्दर हमें अपने पुराने समाज की व्यवस्था, उसका जीवन, विद्या, हुनर इत्यादि के बारे में काफी जानकारी मिल जायेगी।

नये भारत की रचना तभी ठीक तरह से संभव होगी जब हम अपनी परम्पराओं, मान्यताओं, धारणाओं और स्वभाव को समझ पायेंगे। कहा जाता है कि महाभारत के युद्ध के बाद, उसमें जो हुआ और उससे जो परिणाम निकला उन्हें समझने के लिए हमारे ऋषि व दूसरे विद्वान वर्षों तक नैमिषारण्य में बैठे और आने वाले भविष्य को केन्द्र में रखकर बीते समय को समझने में लगे रहे। आज का समय भी महाभारत के उक्त काल से कुछ मिलता–जुलता ही है। हमारी परम्पराओं, दर्शन और गये समय पर, आज का ध्यान रखते हुए, विचार आवश्यक हैं। इसके लिए ३–४ नये विद्या–केन्द्र स्थापित हों तो हम भविष्य

में कैसे क्या करना है, यह निश्चित कर सकेंगे।

अगर सब देशों के दार्शनिक, समाजशास्त्री, मनुष्य की आज की स्थिति को और पिछले ५०० वर्षों में जो स्थिति बनी है – कि कैसे मनुष्य (पुरुष और स्त्री दोनों) का आत्मसम्मान घटा है, अकेलापन बढ़ा है और कैसे दोनों एक दूसरे के लिए केवल क्षणिक भोग की वस्तु रह गये हैं – को समझने का प्रयास करते, तो हो सकता था कि पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्यों का आत्मसम्मान कुछ लौटता और उनके छोटे–छोटे प्राकृतिक समूह में परस्परता फिर से पनपने लगती और व्यक्तियों का आलस्य और उदासीनता कम होती। लेकिन ऐसा तो संसार में अभी होता दिखता नहीं है। फिर भी यह संभव है कि जिन क्षेत्रों में बौद्ध मत का प्रभाव रहा है और जहाँ भारतीय व चीनी (इसमें जापान, कोरिया, कम्बोज, इन्डोनेशिया सभी आ जाते हैं) मान्यताओं व परम्पराओं का असर रहा है, वहाँ सब जीवों का आत्मसम्मान, उनकी अपने समूहों में पारस्परिकता व स्वतन्त्रता काफी हद तक शीघ्र ही वापस लाई जा सके। आर्थिक समृद्धि अपने में जरूरी है, विशेषतः ऐसे क्षेत्रों में जो पिछले २००–३०० वर्षों में छिन्न–भिन्न हो गये हैं और जहाँ अधिक लोगों में पिछले डेढ़–दौ सौ वर्ष से कंगाली का बोलबाला है। लेकिन आत्मसम्मान, परस्परता और सामूहिक स्वतन्त्रता आयेगी, तो आर्थिक समृद्धि भी क्रमशः आ ही जायेगी और समृद्धि की परिभाषा भी नये रूप लेने लगेगी।

जहाँ तक भारतवर्ष की बात है, उसका पहला काम तो आज आत्मसम्मान, साहस, परस्परता और सामूहिक स्वतन्त्रता को देश में शीघ्र से शीघ्र स्थापित करना है। जब यह हो जायेगा तो अन्य जटिल दिखने वाले प्रश्न भी हल होने लगेंगे।

◆◆◆



# अस्पृश्यता की जड़ें

आज हिन्दुस्तान में हमारी अपने बारे में जो तस्वीर बनी है, वह बहुत हद तक अंग्रेजों द्वारा बनायी गई है। ऐसा नहीं है कि यह कोई साजिश वगैरह के तहत किया गया हो। उन्हें राज करना था, कुछ तो इस तरह करना ही पड़ा होगा परन्तु एक और भी कारण रहा है। उनका अपना संसार जिस प्रकार चलता था, उसी से उनकी दृष्टि बनी थी और वे हमको भी उसी दृष्टि से देखते थे। इसलिये हमारे लिये जरूरी है कि हम यूरोप को समझें। इससे हमें समझ में आ सकता है कि आज हमारी अपने समाज के बारे में जो तस्वीर बनी है, वह ऐसी क्यों बनी है। यहाँ मैं भारत में अस्पृश्यता की भावना के ही संदर्भ में खासतौर से चर्चा करूँगा।

अंग्रेजों ने जब भारत पर १७५० से अपना प्रभुत्व जमाना आरंभ किया, तब से भारत में अस्पृश्यता की भावना बढ़ी और अधिक से अधिक लोगों को अस्पृश्य माना जाने लगा। तभी से अंग्रेजों ने भारत की स्मृतियों में से अपनी मान्यता और काम के उद्धरण लेने आरंभ किये और हमें बतलाने लगे कि यही आपके शास्त्रों ने कहा है। शुरू के दिनों में यहाँ जब उनके पाँव जमने लगे, तो उन्होंने बाकी शास्त्रों का अंग्रेजी में अनुवाद करार्ना बंद करके मनुस्मृति का अनुवाद जारी रखा। हमारा उनसे २००–२५० वर्षों का संपर्क होते हुए भी, हमारे अधिक पश्चिमीकृत लोगों को भी यूरोप व इंग्लैण्ड की पुरानी सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक व्यवस्था के बारे में अधिक जानकारी नहीं है। १९०० ई. तक तो इंग्लैण्ड में ऊँच–नीच की धारणा व्यापक थी। इंग्लैण्ड के ९० प्रतिशत लोग "लोअर आर्डर" (निम्न

---

*(यह लेख पहली बार दिसम्बर २००१ में प्रकाशित हुआ था)*

वर्ग) में मान जाते थे, जैसे कि हमारे यहाँ अधिकांश लोग पिछले २०० वर्षों में पिछड़े व अस्पृश्य जातियों के माने जाने लगे।

भारतवासियों की तो यह मान्यता रही है कि हमेशा से, यानि बहुत प्राचीन काल से (श्री रामचंद्रजी के काल के पहले से) वे भारत के वासी रहे हैं। शताब्दियों से इंग्लैण्ड व यूरोप में ऐसी कोई मान्यता नहीं है। आज से एक हजार वर्ष पहले तक तो यूरोप के अधिकांश क्षेत्रों में यूरोप के बाहर से और यूरोप के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र पर आक्रमण होते रहे। वहाँ पहले से बसे लोगों को अधिकांशत: समाप्त कर दिया जाता था, या जो बचे रह जाते थे उनको दास बना लिया जाता था। इंग्लैण्ड में बाहर का अंतिम आक्रमण उत्तर यूरोप के नॉरमन लोगों का हुआ। उन्होंने १०६६ ई. के करीब इंग्लैण्ड पर विजय प्राप्त की और २५–३० वर्षों में ही यहाँ की पूरी राजनैतिक व सामाजिक व्यवस्था बदल डाली। इसका परिणाम यह हुआ कि इंग्लैण्ड में पहले से बसे लोग दासत्व की स्थिति में पहुँच गये। उनसे जमीन इत्यादि सभी कुछ छीन लिया गया और ५०,००० के करीब जो नॉरमन वहाँ आकर बसे, उन्होंने वहाँ के ९५ प्रतिशत साधन, जमीन, वन, खानों इत्यादि को अपना मान लिया और केवल ५ प्रतिशत साधनों को वहाँ के पुराने १० लाख वासियों के पास छोड़ा।

इस बदलाव को ही स्थायी करने के लिये जो व्यवस्थाएँ बनायी गयीं, उन्हीं को अंग्रेज 'रूल ऑफ लॉ' का आरंभ कहते हैं। कमोबेश कुछ ऐसा ही कार्य, अंग्रेजों ने जहाँ–जहाँ वे आक्रमणकारी और विजयी रहे, वहाँ किया – चाहे वह उत्तरी अमरीका हो, अफ्रीका के देश हों, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड हो या भारत और भारत के आसपास के देश हों। जो व्यवस्था व राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक तंत्र भारत में पिछले २०० वर्षों में बना है, वह इसी अंग्रेजी 'रूल ऑफ लॉ' की देन है। जो नॉरमन लोगों ने इंग्लैण्ड में किया, वही अंग्रेजों ने दूसरे देशों में किया, जहाँ वे विजय रहे।

दलित कहे जाने वालों की बात जब मैंने सोची तो मुझे लगा कि अंग्रेज भारत में कुछ ऐसा नहीं कर रहे थे जो वे अपने देश में नहीं करते थे। १९०० तक तो इंग्लैण्ड में यह भावना व्याप्त है कि लोअर आर्डर को तो गरीब ही रहना चाहिये। सबके पास पूरा हो जायेगा तो दान किसे देंगे और ईसाई होने का तो मतलब है कि दान दें। वहाँ इस तरह की मान्यतायें हैं। इंग्लैण्ड के आँकड़े हमें देखने चाहिए जो महत्त्वपूर्ण हैं।

इधर मैंने कुछ दस्तावेज देखे हैं, खासतौर पर दक्षिण के दस्तावेज। मेरी अपनी समझ में भारत में व्यापक अस्पृश्यता पिछले २००–३०० वर्षों से ही हो रही है। मनुस्मृति इत्यादि में अवश्य कहा गया है कि जो अपने वर्ण से गिर जाता है, वह अंत में अस्पृश्य बनता





है। महाभारत में अश्वत्थामा भी, पांडवों के बच्चों की हत्या के बाद, शायद ऐसे ही अस्पृश्य माना गया। वैसे पुराणों में दिये गये भृगु–भरद्वाज संवाद इत्यादि से लगता है कि वर्णों के आपसी संबंधों के बारे में भारत में भिन्न–भिन्न विचार हमेशा ही रहे हैं।

दक्षिण में १७०० से लेकर १७५० ई. के समय में 'अस्पृश्य' जैसे कोई खास समूह नहीं है। परन्तु ये लोग अंग्रेजों द्वारा मारे जा रहे हैं, घटाये जा रहे हैं। जिन्हें आज दलित कहा जाता है, वे तो उस समय सेनानी लोग हैं। गाँव की अपनी पुलिस है और ये लोग पुलिस का काम करते हैं। स्थानीय सेना में ये लोग हैं। पुलिस का काम पेरियार करते हैं, चर्मकार करते हैं। ये अपने को बहादुर सिपाही कहते हैं। ये ग्रामों और नगरों में लोगों की जमीन के झगड़ों को निपटाने का काम भी करते हैं – जमीन मापने, अनाज मापने इत्यादि का काम ये लोग करते हैं। १७७० ई. का एक दस्तावेज है जिसको वारेन हेस्टिंग्स ने मद्रास से कलकत्ता वापिस जाने से पहले तैयार करवाया था; उसमें ये आज दलित कहे जाने वाले लोग कह रहे हैं कि "वी ऑर ग्रेट सोल्जर्स, वी आल्सो मेक सेडल्स" ("हम महान सैनिक हैं। हम घोड़ों की जीन भी बनाते हैं।") तो उनकी तो अपनी एक आत्मछवि, एक 'सेल्फ इमेज' है। ये 'सेल्फ इमेज' यही चीज है। अब होता यह होगा कि ब्राह्मण उनके बारे में कुछ और कहता होगा, लेकिन ब्राह्मण उनके बारे में क्या कहता है, उससे तो काम नहीं चलता न! महत्त्वपूर्ण यह है कि वे अपने को क्या मानते हैं। ये जो आज गिरी हुई जातियाँ कही जातीं है, उनकी उस समय 'सेल्फ इमेज़' तो बहुत ऊँची दिखती है।

इस तरह अस्पृश्य कही जाने वाली जातियों की भी अपने बारे में मान्यताएँ कुछ उपरोक्त प्रकार की हैं। ये मान्यताएँ सही हैं या नहीं, इतिहास में बैठती हैं या नहीं, यह अलग प्रश्न है। इन सब पर तो काम होना चाहिये। हमारे इतिहासकारों को सोचना चाहिए। अब ग्रीक मिथकों में जो कुछ मिलता है उससे तो यह सब खराब नहीं है, सुन्दर ही है। आज हमारे विद्यालयों में ग्रीक मिथकों को तो माना जा सकता है, उन्हें पढ़ाया जा सकता है, उन पर बड़ी–बड़ी डिग्रियाँ मिलती हैं, बड़े–बड़े स्कॉलर बनते हैं। तो इन पर क्यों नहीं बनते? क्यों नहीं डिग्रियाँ मिलतीं? मिलनी चाहिए थी। कुछ काम होना चाहिये। और इस तरह की बातें हिन्दुस्तान के हर जिले में मिल जायेंगी, ऐसा मुझे लगता है। इन सब पर काम हो तो कुछ सार्थक निकलेगा।

◆◆◆

# सूखा भगाने के लिये क्या करना होगा?

अभी देशव्यापी सूखे की जो बात भारत में चली है वह एकदम नई नहीं है। पिछले १५०–२०० बरसों से अंग्रेजी राजतंत्र की स्थापना से हमारे देश की सब तरह की ही व्यवस्थायें टूटी हैं व कहीं–कहीं कठिनाई से अपने को बचाने में लगी हैं। हर दो–चार बरस में ऐसे बड़े सूखे आते रहते हैं। इनमें असंख्य बच्चे, स्त्री, पुरुष तो तरह–तरह से समाप्त होते ही हैं, जो बचते हैं उनकी दुर्बलता पीढ़ी–दर–पीढ़ी बढ़ती जाती है। और ऐसे ही हमारे गाय, बैल व दूसरे जीव, वन इत्यादि पिछले १५०–२०० बरसों से गहरी गिरावट में ही जा रहे हैं।

लेकिन सूखे और बारह वर्ष के दुर्भिक्षों का महाभारत काल में भी वर्णन है। हो सकता है यह महाभारत काल का वर्णन किसी एक ही १२ वर्ष के दुर्भिक्ष का वर्णन हो। इसमें विश्वामित्र जैसे ऋषि को भी भूख–प्यास से पीड़ित होकर एक कुत्ते की हड्डी की चोरी करनी पड़ती है। सम्भव है ऐसा कई बार हुआ हो। विस्तृत भारतीय सभ्यता में ऐसा कभी–कभी हो जाना आश्चर्य की बात नहीं है।

लेकिन आज का सूखा और इसके पहले डेढ़–दो सौ बरस पूर्व होने वाले सूखे कुछ अलग–अलग तरह के हैं। पहले के सूखों में हमारे स्थानीय साधन व व्यवस्थायें इन कभी–कभी होने वाली विपत्तियों में से हमें पार करा देती थी। और एक अच्छी बरसात बीतते ही पहले वाली खुशहाली, उपज, एवं हँसी–खुशी वापस आ जाती थी। इसका एक बड़ा कारण यह भी रहा कि भारत अलग–अलग सांस्कृतिक व प्राकृतिक क्षेत्रों में व्यवस्थित

---

*(यह लेख धर्मपाल जी द्वारा मई २००० में संशोधित किया गया था)*





था और इन क्षेत्रों की व्यवस्थायें कुएँ, तालाब, वन दक्षिण के प्रदेशों की ऐरी; उत्तर के जोहड़, रजवाहे और हिमालय से निकली नदियाँ व महानदियाँ जैसे गंगा, यमुना, पंजाब–हरियाणा की नदियाँ, ब्रह्मपुत्र, इरावती, सरयू, शारदा, गंडक इत्यादि नदियाँ हमेशा ही पानी से परिपूर्ण होती थीं। यह सब भी पिछले ५०–१०० बरसों में काफी हद तक अस्तव्यस्त हो गया है।

हमारे यहाँ के कुएँ पिछले १००–१५० बरसों में सूखने शुरू हुए। मुख्यतः इनका सूखना व काम का न रहना पिछले ५० बरस का है। उनके पानी के स्रोत कम होते गये, बहा हुआ जो वर्षा का पानी आता था वह सड़कों, रेल लाइनों, बाँधों इत्यादि ने रोक दिया। तालाब, झीलें व जोहड़ भी इसी तरह सूखते चले गये। इनका पानी खराब होता है, यह कहकर सरकारी स्तर पर इन्हें बन्द करवा दिया गया और इनके स्थान पर जहाँ–तहाँ नलकूपों का आमतौर पर गंदा पानी दिया जाने लगा। दिल्ली में तो नलकूपों का पानी अक्सर गन्दा है इसकी पूरी सार्वजनिक मान्यता है।

पानी के साधन व उनके उपयोग पर भी पश्चिमी आधुनिकताओं व हमारी व्यवस्थाओं की टक्कर में हम हारे। विक्षिप्त हुए। हमारे साधन छीनकर आधुनिकता को दिये गये। आधुनिकता का काम शहरों को चलाना (जैसे तैसे भी), कारखानों को चलाना व बड़ी–बड़ी सिंचाई व्यवस्थाओं की देखभाल करना रहा है। बाकी देश पर, लोगों पर, ग्रामों पर और वहाँ की व्यवस्थाओं पर क्या बीतता है, इसको देश के राजतन्त्र ने अपनी जिम्मेदारी नहीं माना। पानी, उपजाऊ जमीन, व वनों को लेकर एक बड़ा युद्ध पश्चिमी आधुनिकता व भारतीयता में छिड़ा है। अभी तक तो भारतीयता ही त्रस्त हो रही है।

लेकिन यह कब तक चलेगा? पिछले ५०–६० बरस में हमारे राजतंत्र ने देश को पुनः पश्चिम के विद्वानों एवं अर्थशास्त्रियों के जिम्मे छोड़ दिया है। इनमें पंडित जवाहरलाल नेहरू और आज के प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी भी विदेशियों से ही जुड़े रहे। इन दोनों में किसी तरह का देशप्रेम होते हुए भी, इनके मन में देश के लोगों के प्रति एक तरह का अलगाव व उपेक्षा का भाव ही रहा दीखता है।

लेकिन ये अकेले ही नहीं थे। समय बीतते–बीतते इनके जैसे विचारों व दृष्टिकोण से प्रभावित आज ५–१० लाख लोग तो भारत में ऐसे हैं ही। संयुक्त राज्य अमरीका व यूरोप में बसे, आधुनिकता को मानने वाले भारतीय अलग से हैं। लेकिन न तो भारत में पंडित जवाहरलाल नेहरू व अटल बिहारी वाजपेयी और उनको मानने वालों को यह आता है कि भारत के समाज व लोगों का शीघ्र ही पश्चिमीकरण हो जाये, जिससे वे बराबर नहीं

तो व्यवस्था व तकनीकी के क्षेत्रों में पश्चिम के लोगों के कहीं तीन चौथाई करीब तो पहुंचे, और न ही यह काम भारत से बाहर बसे आधुनिक भारतीयों की आज की समझ में बैठा है। वैसे आज से १००—१५० बरस पहले जापान, चीन व कोरिया से पश्चिम गये युवाओं में यह समझ, शायद सन १८६५ के बाद से, आने लगी थी और उनमें से काफी ने पश्चिम का जो कुछ वे अपनी व्यवस्थाओं में खपा सकते थे, उसको खपा लिया।

हमारे समक्ष तो आज एक नया देवासुर संग्राम है। हो सकता है इसमें पश्चिम के लोगों को आज 'देव' कहा जाये और भारतीयों को 'असुर'। लेकिन युद्ध तो है ही। और युद्ध के लिये जो करना पड़ता है, वह सब हमें करना पड़ेगा।

आरंभ में तो हमें अपनी पुरानी व्यवस्थाओं, तकनीकों, साधनों और उनके उपयुक्त इस्तेमाल पर जाना ही पड़ेगा। चल पड़ने पर वे चाहे कितनी भी बदली जायें। हम अगर इन जाने हुए तरीकों को उपयोग में नहीं लेंगे तो आज जो यह विश्व बैंक, डब्ल्यू टी ओ (विश्व व्यापार संगठन), कम्प्यूटर लॉबी इत्यादि के गिरोह बने हैं, वे संसार में अपने से कमजोरों को रौंद देंगे और जैसे ब्रिटेन में लड़ाई के दिनों में (१९४०—१९४५) वहाँ के प्रधानमंत्री श्री विनस्टन चर्चिल चाहते थे कि पूरा जर्मनी एक चरागाह जैसा बन जाए। वैसे ही यूरोप वालों को चाहे वे संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति क्लिंटन हों, या ब्रिटेन के प्रधानमंत्री हों, या यूरोप के अन्य कुछ देशों के राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री हों, यह ठीक ही लगेगा कि अगर एशिया व अफ्रीका के देश व लोग आसानी से बचाये नहीं जा सकते तो उन्हें सब संभव तरीकों से पृथ्वी पर से हटा दिया जाए। ये सब उनके कब्जे में आयी पृथ्वी पर बोझ हैं और उनको पूरा हटाना ही यूरोपीय दर्शन के अनुसार आवश्यक कदम है। पिछले ५०० बरसों में आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, अमरीका इत्यादि में यूरोप ने ऐसा ही किया है।

हमें इस युद्ध को लड़ना है। लड़ना है तो इसकी तैयारी करनी पड़ेगी। अपनी आज से पाँच—छह सौ बरसों पहले तक स्थापित विश्व सभ्यता का चित्र सामने रखना होगा, यह सभ्यता ४००—६०० बरस पहले तक कैसे समृद्धि से रहती थी, इस पर सोचना होगा। तब हमारी सभ्यता का विस्तृत क्षेत्र पश्चिमी सभ्यता के संसार से व दूसरी अन्य सभ्यताओं से कैसा सम्बन्ध रखता था, क्या बौद्धमत की व्यवस्थाओं व सीखों ने इन बड़ी सभ्यताओं को अपने—अपने तरीके से अलग—अलग जीवित रहने की सीख दी थी, यह समझना होगा। हमारा पड़ोस ५०० बरस पहले और अभी भी यूरोप व अमरीका नहीं है। सन् १५०० तक इस पृथ्वी पर बसा संसार कुल मिलाकर ठीक ही चलता था, ऐसा दीखता है।





हमारे स्वतन्त्रता सेनानियों और उनकी सन्तानों ने पश्चिम के सामने घुटने टेक दिये हैं। यह उतना ही बड़ा पाप है जितना कि महात्मा गांधी बिहार में हुए १९३४ के भूकम्प के कारणों को कहते थे। एक तरह से हमारा पाप तो अधिक भंयकर है कि हमने अपनी ऐतिहासिक व पौराणिक धरोहर को भुला दिया और हमारे पड़ोसी व सम्बन्धी कौन हैं, इसको भी भूल बैठे। हमने खुली आँखों, एक तरह के आज के राक्षसों — पश्चिम सभ्यता राक्षसी के अलावा और क्या कहीं जा सकती है — के साथ बेमेल गठबंधन—सा कर लिया है। उनके जादू को हमने अपने ऊपर छा जाने दिया है और बेहोशी जैसी हालत में उनके पीछे—पीछे चल रहे हैं। ये स्वतन्त्र लोगों के रास्ते नहीं हैं।

अगर हमें यूरोप व संयुक्त राज्य अमरीका की तरह बड़ा राक्षस ही बनना हो, तो उनसे कहीं आगे बढ़कर कुछ ऐसा काम करें जिससे वे हमारा लोहा मान जायें। ५—१० क्षेत्रों में तो वे जापान, चीन इत्यादि को अपने बराबर का आज मानते ही हैं।

हमारे सामने दो बड़े प्रश्न हैं। मुख्य प्रश्न तो यह है कि हमारे साधारण जन (८० करोड़, ९० करोड़, ९५ करोड़) कैसे अपनी शक्ति, साधनों और बुद्धि के बल पर आज सुखी जीवन जी सकते हैं। भारत व भारत के उत्तर और पूर्व व दक्षिण के वासी बुद्धि, कौशल व दक्षता में संसार की दूसरी सभ्यताओं के लोगों से कुछ आगे ही रहे हैं, यह तो अब तक का ऐतिहासिक सत्य है। इसमें प्रकृति उनकी सहायक रही। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि सन् १७५० तक चीन व भारतीय क्षेत्र पृथ्वी पर होने वाले औद्योगिक उत्पादन का ७३ प्रतिशत उत्पन्न करते थे, यह आज के विद्वानों की खोज व मान्यता है। वे साधारणतः हमेशा ही ऐसा जीवन जीते थे, ये सब तरह की कलाएँ वे जानते हैं (आज चाहे वे धूमिल हुई हों) इसमें कोई शक नहीं है।

इस डेढ़ सौ—दो सौ बरस के भयंकर बदलाव ने (जब उनमें से आधे भूख, प्यास और तरह—तरह की बीमारियों से मारे गये) उन्हें शारीरिक व बौद्धिक दृष्टि से कमजोर कर दिया है। और उनकी भूमि, वन, पानी, मिट्टी इत्यादि साधन या तो उनसे छीन लिये गये हैं या उन पर रुकावटें खड़ी कर दी गयी हैं।

आज से १००—१५० बरस पहले तक हर परिवार का अपनी स्थानीय बस्ती, गाँव कस्बे इत्यादि पर अलग—अलग तरह का अधिकार और उस के सापेक्ष कर्तव्य थे। हर एक का वहाँ का निवासी होने के नाते वहाँ की बस्ती की जमीन पर घर, आँगन, पिछवाड़ा इत्यादि बना लेने का अधिकार था। वह वहाँ का निवासी व नागरिक था, कोई दास व किरायेदार नहीं (जैसा कि यूरोपीय सभ्यता के अधिकांश लोग थे)। यह मान्यता और इसके

अनुसार व्यवस्था सारे देश के जन को जन्म–सिद्ध अधिकारों के नाते फौरन ही वापिस मिलनी चाहिये। इसी तरह से जहाँ जो रहता है, वहाँ के पानी, मिट्टी, जमीन, वन और प्राकृतिक सम्पदा पर उसका सबके बराबर अधिकार रहा है और यह दोबारा स्थापित होना चाहिये। ऐसे अधिकारों के स्थापित होने पर ८०–९० प्रतिशत भारतीय जन की दैनिक समस्याओं का हल निकल आयेगा और उनका समाज तब ऐसी व्यवस्था करने लगेगा कि सब के जीवन यापन के लिये वहाँ के साधनों की उपलब्धता के अनुसार उपयोग होगा। तभी हर स्थान के लोग अपनी मिट्टी, पानी, वन सम्पदा इत्यादि की रक्षा करने लगेंगे; उसका आज का विनाश रोकेंगे, वह घटे नहीं, इसका इन्तजाम करेंगे और मुसीबत के समय सब का काम चल जाये, इसका ध्यान रखेंगे। यही भारतीय तरीका था और यही महात्मा गांधी के ग्राम स्वराज का असली आधार और चित्र है। महात्मा गांधी की व्याख्या में स्थानीयता और पड़ोस पर ही स्वदेशी टिका है। गांधीजी के अनुसार हमने पिछले १००–२०० बरसों में जो पश्चिम से लिया है, वह सब एक बार तो पूरा त्याग देना चाहिये। बाद में इसमें से किसी की आवश्यकता होगी, तो अपने हिसाब से उसे समझ लेंगे।

भारत के ग्रामों, कस्बों व दूसरी छोटी बस्तियों को अंग्रेजों द्वारा स्थापित राजतन्त्र के दासत्व से मुक्त होने पर ही देश का साधारण जीवन–यापन चल सकेगा। आज के राजतन्त्र की रचना ही इस दृष्टि से की गयी थी कि भारत में कहीं भी भारतीय अपने बल व बुद्धि से कुछ भी न चला सकें। डेढ़ सौ–दो सौ बरस के लाखों करोड़ों अंग्रेजी दस्तावेजों में यही कहानी बार–बार आती है। सन् १८०० में ही लन्दन ने अपने अंग्रेज नौकरों को बतलाया था कि वे भारतीयों को समझा दें कि जो कुछ उन्हें मिला है, वह सब अंग्रेजों की देन है। भारतीयों का अपना कुछ भी नहीं है।

इस आदेश को और इसमें से जो निकला है, उस सब को पूर्ण रूप से बदले बिना, भारत में किसी तरह का भी जीवन–यापन साधारण जन के लिये सम्भव नहीं है। इसलिये राजतन्त्र का जाल ग्रामों इत्यादि से जितना शीघ्र हटे, उतना ही श्रेयस्कर है।

स्वतन्त्र समूहों, ग्रामों, कस्बों, बस्तियों, छोटे पुराने नगरों को दोबारा से पहले अपने क्षेत्र का, फिर प्रदेश का और फिर देश के राजतन्त्र व उसकी व्यवस्थाओं की रचना करनी होगी। वह रचना क्षेत्रों, प्रदेशों इत्यादि में आज एक दूसरे से कुछ भिन्न रहे, यह सम्भव है। किन्तु क्षेत्रों, प्रदेशों इत्यादि की दृष्टि से उनके अधिक काम की भी होगी। ऐसी पुनर्रचना देश का भावी प्रतीक होगी, जो देश के स्वभाव, प्रकृति, और सम्भावनाओं के अनुरूप होगी।



आज जो बच्चों को उनके घरों व समाज से अलग करके, यूरोप व अमरीका की बनायी मान्यतायें प्रतिष्ठित की जा रही हैं, हमारा उनसे किसी तरह का संबंध नहीं बैठता। यूरोप में २०० बरस पहले वहाँ के बच्चों के साथ ४–६ बरस की उम्र से जो अत्याचार होता रहा, यह मान्यता उसी का एक तरह का पश्चाताप है। यूरोप के लिये ऐसा पश्चाताप आवश्यक ही था। लेकिन हमारे ग्राम, समाज, कामकाज, और जीवन–यापन के तरीके तो भिन्न हैं, उनमें बच्चे भी उतने ही भागीदार हैं जैसे बड़े। क्योंकि उन्हें साधारणत: जिस समाज व स्थान पर वह पले और बड़े हुए, उसे चलाना है इसलिये बचपन से ही उन्हें उसे समझते रहना है, उसमें अपनी समझ व बुद्धि से आवश्यक बदलाव सोचने हैं इसलिये उन्हें समाज की दिनचर्या से दूर रखना एक बड़ी मूर्खता होगी।

ऐसा ही संबंध हमेशा से हमारा पड़ोसियों के साथ रहा है चाहे वे बराबर के ग्राम के हों, व बराबर के देश के जैसे कि दक्षिण–पूर्व एशिया, पूर्व और मध्य एशिया व पूर्वी व दक्षिण अफ्रीका के देश हों। उनके साथ हमारी हमेशा से सहकार व भागीदारी चलती रही है जो यूरोप के बढ़ते आधिपत्य के कारण टूटती गई। यह संबंध जितने शीघ्र पुन: स्थापित हों, उतना अच्छा है।

समूहों और क्षेत्रों के सब तरह के फैसले अन्त में मिलकर के ही पक्के और प्रभावशाली बनते हैं, यह हमें दोबारा से समझना पड़ेगा। भारत व प्रदेशों की राजधानी व वहाँ स्थापित अलग–अलग संसद विधान सभाएँ इत्यादि इस तरह के फैसले करने के योग्य नहीं हैं। लेकिन देश ने चूंकि उन्हें वहाँ स्थापित किया है, इसलिये ग्रामों, क्षेत्रों व प्रदेशों में किये गये निश्चयों को समझना, जरूरी होने पर सुझाव देना और उन्हें प्रतिष्ठा दिलाना, उनका काम है। इसी तरह से इन संसदों इत्यादि को फौरन ही उस काम में लगना होगा जो सन् १९४७ में छूट गया। जो राजतन्त्र सन् १९४७ में पूरी तरह से बदल जाना चाहिये था, वह अब तो एक–दो बरस के अन्दर नये आधारों और मान्यताओं पर बना लिया जाये।

इसी तरह के कदम हमें विदेशों से रिश्ते और रक्षा और तकनीकी नीतियों के सम्बन्ध में उठाने होंगे। पिछले २०० बरसों में बने सम्बन्धों, तरीकों इत्यादि को आवश्यकता अनुसार बदलना होगा और उनकी जगह जो बनेगा उसे प्रतिष्ठित करना होगा। यह काम केवल राजतन्त्र व व्यवस्था में लगे लोगों का ही नहीं है। इसमें तो जनसाधरण को आगे आना पड़ेगा। अलग क्षेत्रों, प्रदेशों, दूसरे देशों इत्यादि से नये सम्बन्ध कायम करने पड़ेंगे, और ऐसा करने में देश के सन्तों, संन्यासियों, विद्वानों और आचार्यो से कहना पड़ेगा कि वे इस नयी स्थापना में रास्ता दिखलायें और उनमें से जो स्वयं घूम–घूम कर, देशदेशान्तर

के लोगों से वार्तालाप कर सकते हैं, वे उसमें लगें। इसी तरह भारतीय युवा वैज्ञानिकों का जो पश्चिम को कुछ समझने लगे हैं और व्यापारियों इत्यादि का जिनका इन देशों से परिचय है और वहाँ की भाषा समझते हैं, इस आपस के सम्बन्ध बनाने में बड़ा योगदान होगा।

ऐसा नहीं कि ऐसी सोच पिछले ७०–८० बरस में नहीं हुई। सन् १९४५ तक तो देश ऐसे ही सोचता था। उसके बाद भी बहुत से लोग, समूह इत्यादि समय–समय पर ऐसा सोचते रहे। सन् १९७७ में ही ऐसी बात उठी कि देश के आचार्य, सन्त इत्यादि देश के प्रश्नों पर मिलकर विचार करें और जहाँ–जहाँ आवश्यक हो वहाँ–वहाँ नयी दिशा सुझाएँ। लेकिन कई कारणों से उस समय ऐसा नहीं हो पाया। इस सभा में श्री जयप्रकाश नारायण के रहने की भी बात थी।

अगर समूह व ग्राम से लेकर देश तक और देश से भी अधिक भारतीय सभ्यता के इस विशाल क्षेत्र में हम दोबारा से नया समाज व सभ्यता बनानी शुरू करेंगे तो हमारे रास्तों में जो अड़चने हैं, वे हटती चलीं जायेंगी और न केवल सूखा ही जायेगा बल्कि इन दो सौ–चार सौ बरसों में जो कूड़ा–करकट व सड़न देश में जमा हो गयी है, वह भी शीघ्र ही दूर होती चली जायेगी। ऐसा होने पर पड़ोस के देश भी हम पर हँसना बंद करके हमारा सम्मान करने लेगेंगे और तब हमारे व उनके बीच करीब के सम्बन्ध बनने लगेंगे। तभी पश्चिमी सभ्यता भी हम से नये सम्बन्ध कायम करने के संदर्भ में सोचेगी। तब हम उनकी जूठन के पात्र नहीं रहेंगे, बल्कि उनके बराबर माने जाने लगेंगे। यह बदलाव ही हमारे पुनरुत्थान का प्रमाण होगा।

◆◆◆

# पर्यावरण के नाम पर उपनिवेशवाद

अमेरिका की 'खोज' के बाद तीन शताब्दियाँ इसी यूरोपीय खोज के विस्तार के रूप में थीं, जिनमें विजित जातियों पर नियंत्रण करने का विश्वव्यापी अभियान चला। उन्नीसवीं शताब्दी में विजेता यूरोप को महसूस हुआ कि जिन लोगों की उन्होंने 'खोज' की, उनकी आत्मा को मुक्त करने और उन्हें ईसाइकरण के माध्यम से प्रकाश की ओर ले जाने की आवश्यकता है। दुनिया के ईसाइकरण के इस अभियान के तुरंत बाद कार्ल मार्क्स ने १८४८ में कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो पेश किया और दुनिया को मार्क्सवादी–लेनिनवादी दृष्टि दी।

आज जब ईसाई मिशनरियों का अभियान कुछ फीका पड़ गया है और मार्क्सवादी–लेनिनवादी दृष्टि एकदम अमान्य हो गई है, तो पश्चिम या पश्चिमवादी लोगों को अब एक नए भावनात्मक मुहावरे की जरूरत महसूस हो रही है। पश्चिमी मनुष्य का आक्रामक स्वभाव, समस्याओं का हल निकालने की खुद की क्षमता के बारे में उसकी भ्रांति और अपने कार्यों के बारे में प्रभावशाली तस्वीरें गढ़ने में उसकी कुशलता से ही आगे चल कर इस तरह का भावनात्मक नारा उसे मिल सकता था। देवता भी पश्चिम का साथ देते नजर आ रहे हैं, इसलिए पश्चिम को कोई ज्यादा इंतजार नहीं करना पड़ा। यह नया मुहावरा या शब्द 'पर्यावरण' है। और कुछ ही महीनों के भीतर ब्राजील के रियो डि जनेरो नगर में इसकी ताजपोशी होने वाली है। उसके बाद यह दुनिया में सर्वमान्य बादशाह घोषित कर दिया जाएगा।

---

*(यह लेख फरवरी १९९२ में लिखा गया था)*

पर्यावरण, पारिस्थितिकी, बायोस्फेयर जैसे शब्दों की गूँज १९७० के बाद से ज्यादा तेज होती रही है। लेकिन बायोस्फेयर को होने वाली हानि, पर्यावरण के प्रदूषण और कृषि, पशुपालन एवं वनों के दोहन के आधुनिक तरीकों से होने वाले नुकसान के बारे में कुछ कल्पनाशील व्यक्ति इस सदी के चौथे दशक से ही चिंता व्यक्त करते रहे हैं। महात्मा गांधी ने इन प्रक्रियाओं के बुरे परिणामों की कल्पना शायद १९०९ में ही कर ली थी। यूरोप में भी बहुत से लोग १९वीं शताब्दी के शुरू से ही, बिजली से चलने वाली मशीनों द्वारा औद्योगिक उत्पादन का विरोध करने लगे थे।

हालांकि अभी पर्यावरण की ताजपोशी होना बाकी है, फिर भी बहुत से देश अपने नेताओं, सरकारी और गैर–सरकारी संगठनों के माध्यम से सामूहिक रूप से या राष्ट्रीय स्तर पर इस महान ताजपोशी के लिए तैयारियाँ कर रहे हैं। इस तरह से एक कोशिश १६ से २० दिसम्बर, १९९१ के बीच फ्रांस के राष्ट्रपति की व्यक्तिगत पहल से पेरिस में हुई। इसमें भारत समेत दुनिया के साठ देशों से छह सौ से आठ सौ लोग इकट्ठे हुए। इस सम्मेलन में क्योंकि गैर–पश्चिमी सदस्य पहले से तैयार प्रस्ताव के प्रारूप से सहमत नहीं थे, इसलिए उन्होंने इस विषय पर अलग से अपना एक वक्तव्य भी जारी किया। इस पेरिस सम्मेलन के सिलसिले में यह भी कहा जाता है कि संयुक्त राष्ट्र के एक प्रतिनिधि ने एक प्रतिष्ठित भारतीय पर्यावरणविद् को सार्वजनिक रूप से डांट लगाई और कहा कि जो अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था सदस्यों को लगातार (दुनियाभर की यात्राओं के लिए) पैसा देती है, उसी व्यवस्था के खिलाफ बोलने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है। झिड़की इतनी तीखी थी कि भारतीय प्रतिनिधि को लगा जैसे उसे निकृष्ट मानवों के वर्ग में डाल दिया गया है और इसलिए उन्होंने अगले दिन औपचारिक सम्मेलन में ही अपनी भावनाएँ व्यक्त कर दीं।

विश्व पर्यावरण का जादू इतना ताकतवर है कि आठ महीने तक चलने वाले भारत–जर्मन मेले में भी पर्यावरण पर विशेष ध्यान दिया गया है। लेकिन नीदरलैण्ड के उत्साही लोगों ने पर्यावरण के बारे में एक अतिरिक्त दृष्टि अपना ली है। उन्होंने भी फ्रांसीसियों की तरह राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किए लेकिन उन्होंने गैर–पश्चिमी देशों के विद्वानों और सामाजिक कार्यकर्ताओं को भी न्योता दिया ताकि वे इस विषय के बारे में उनके नज़रिए को भी जान सकें। इसी के नतीजे के रूप में १२८ पन्नों की वह पुस्तक प्रकाशित हुई जिसका नाम "दक्षिण का एक दृष्टिकोण–पूँजी से पर्यावरण का पतन कैसे होता है : नीदरलैण्ड में पर्यावरण संबंधी संतुलन" रखा गया है। पुस्तक के लेखक रियो डि जैनेरो नगर के सरकारी प्रशासक और सांस्कृतिक नृ–शास्त्री



मर्शियोगोमेज़, इंडोनेशिया में पर्यावरण संबंधी समस्याओं का अध्ययन करने वाले चंद्र किराना, तंजानिया के सामी सोंगनबेले और भारतीय समाजशास्त्री और गांधीवादी राजीव वोरा हैं।

'दक्षिण की दृष्टि' की अपनी खूबियाँ हैं, मगर हॉलैण्ड के बारे में जो तथ्य इसमें दिए गये हैं, वे सचमुच डरावने हैं। पुस्तक के अनुसार नीदरलैण्ड में शहरों के गंदे नालों से साफ किया हुआ पानी तो पीने के लिए सुरक्षित है लेकिन बादलों से गिरने वाली बूंदें सुरक्षित नहीं हैं। अगर हम भारतीय इस डच अनुभव से एक–दो दशक ही पीछे हैं तो हमें अपनी प्राचीन बावड़ियों को भूल जाना होगा, जहाँ सदियों से बारिश का पानी इकट्ठा करके सालों–साल तक इस्तेमाल होता है। पुस्तक के अनुसार वायुमंडल में एसिड की मात्रा बहुत ज्यादा है इसलिए 'इससे कोई फायदा नहीं कि आप अपने बालों को एसिड से बचाने के लिए परेशान हों, एसिड तो आपके बालों में आएगा ही। मगर आप हर वक्त नल से आने वाले पानी से नहा कर जैविक रूप से घुलनशील शैंपू से तो बाल साफ कर ही सकते हैं।' इसके अलावा एसिड युक्त पानी, जो पेड़ों पर गिरता है और जल्दी से रिस कर नीचे नहीं जाता बल्कि धीरे–धीरे पेड़ों के अंदर चला जाता है, जिससे पेड़ या तो मर जाते हैं या मर्माहत होते हैं। यहाँ यह बात याद रखने की है कि आठवें दशक में यूरोपीय और जर्मन रुचि पर्यावरण में तब जगी जब उन्होंने पाया कि एसिड वर्षा से कुछ पेड़ ही नहीं, पूरे जंगलों को नुकसान हो गया है।

पश्चिम की चिंता का एक और मुद्दा है – भारी मात्रा में घरों में पैदा होने वाला कचरा। हॉलैण्ड में ही हर साल एक परिवार में औसतन तीन हजार किलोग्राम कचरा बनता है। क्योंकि हॉलैण्ड में माँस और दूध का सबसे ज्यादा काम होता है, इसलिए वहाँ बड़ी मात्रा में पशु होने की वजह से काफी ज्यादा गोबर भी पैदा होता है। हॉलैण्ड की आबादी डेढ़ करोड़ है, जबकि वहाँ पशुओं की संख्या बारह करोड़ है। यानी एक मनुष्य पर आठ जानवर हैं। और हर आठ पशुओं पर सामान्यत: साठ हजार किलोग्राम गोबर सालाना पैदा होता है। इन जानवरों को जितने पशु–आहार की जरूरत होती है, उसका दो तिहाई हिस्सा ब्राजील और थाइलैण्ड जैसे देशों से आयात किया जाता है। इन देशों को अपनी आर्थिक तंगी के कारण चारा निर्यात करना पड़ता है। इसका परिणाम होता है कि एक ओर तो हॉलैण्ड में गोबर के अंबार लग जाते हैं और दूसरी ओर ब्राजील और थाइलैण्ड जैसे देशों में चारा लगाने के बाद इतनी जमीन ही नहीं बचती कि उस पर पर्याप्त अनाज उगाया जा सके और उनकी जमीन जैविक खाद से भी वंचित रह जाती है। खुद हॉलैण्ड में मात्र

चौबीस लाख हेक्टेयर जमीन जोती जाती है जबकि इस देश का कृषि उद्योग दूसरे देशों से चारा हासिल करने के लिए उनकी डेढ़ करोड़ हेक्टेयर जमीन की उपज पर कब्जा किए हुए है।

यूरोपीय विश्व में आशा की एक किरण दिखाई देने लगी है। इस तरह का एक संकेत है कि यूरोप अब जैविक खाद इस्तेमाल करने लगा है। लेकिन हॉलैण्ड में १९८६ में एक लाख आठ हजार किसान थे पर उनमें से पारम्परिक खाद सिर्फ पाँच सौ किसान ही इस्तेमाल करते थे। बताया जाता है कि इस तरह की खाद की उत्पादकता केवल साठ फीसदी है। इसके अलावा ऐसे किसानों को सरकार वित्तीय सहायता नहीं देती; सामान्य दरों पर कर्जे भी नहीं दिये जाते। इसलिए इस जैविक प्रणाली से उत्पादन की कीमत दो से तीन गुना ज्यादा हो जाती है।

इस पुस्तक का महत्त्व इस बात में है कि यह गैर–यूरोपीय विश्व की निर्भरता और दयनीय स्थिति का परोक्ष रूप से एक चित्र खींचती है। मान भी लिया जाए कि अगले पचास सालों में यूरोप अपने औद्योगिक ढाँचे में परिवर्तन करेगा और पारम्परिक कृषि प्रणालियाँ अपनायेगा, तो भी गैर–यूरोपीय विश्व की समस्याओं का इससे कोई हल नहीं होने वाला। उम्मीद करना तो ठीक है, लेकिन असल में आग्रह और कर्म ही निर्णायक होते हैं। गैर–यूरोपीय तरीके से आग्रहपूर्वक उदाहरण पेश करना ही ऐसा रास्ता है जिससे यूरोपीय विश्व और गैर–यूरोपीय विश्व के बीच एक किस्म का तालमेल या समता पैदा हो सकती है।

फिर भी, इस तरह के निश्चय और आग्रह के लक्षणों का पूरी तरह अभाव नहीं है। दिसंबर में आयोजित पेरिस सम्मेलन में शामिल कुछ सदस्यों ने "१९९० के दशक के लिए नागरिकों की कार्य योजना" का प्रारूप दस्तावेज की प्रतिक्रिया में 'एजेंडा साउथ' पेश किया जिसकी भूमिका में कहा गया है :

''हमारे भविष्य की जड़ें पिछली पाँच शताब्दियों में तैयार की गई ज़मीन पर नहीं उगाई जानी चाहिए। इस दौरान उत्तर के शक्तिशाली राजनैतिक और आर्थिक अभिनेताओं ने, जिनमें आज जापान भी शामिल है, प्रकृति पर राक्षसी आक्रमण किए और यह सब प्रगति और विकास के नाम पर हुआ, जिससे करोड़ों सामान्य लोग अपने परिवेश से उखाड़ दिए गए। यह हमला आज भी जारी है और इसके कम होने के संकेत नहीं दिखते, बल्कि इसके विपरीत उत्तर के वही आर्थिक और राजनैतिक अभिनेता और अधिक संपन्न और शक्तिशाली हो रहे हैं। अब वे अपना प्रभाव, तथाकथित विश्व प्रणाली के बहाने, दुनिया





के उन लोगों और क्षेत्रों तक फैला रहे हैं जो अब तक उनकी पहुँच से बाहर थे। पिछले पाँच सौ सालों में ये शक्तियाँ प्रकृति के प्रति उस दृष्टिकोण की ही उपज हैं जो पश्चिमी संस्कृति का अनिवार्य अंग है और जिससे पश्चिमी मनुष्य की पहचान बनती है। यह दृष्टि सभी महत्त्वपूर्ण गैर–पश्चिमी संस्कृतियों के लिए एकदम पराई और अमान्य है।''

ये शक्तिशाली शक्तियाँ अब पश्चिमी सरकारों और वित्तीय संस्थाओं के मार्फ़त, अपनी गतिविधियों को जारी रखते हुए भी, पर्यावरण संबंधी उपनिवेशवाद को जन्म दे रही हैं। हम इस नए उपनिवेशवाद का हिस्सा नहीं बनना चाहते। इन परिस्थितियों में बेहतर यही होगा कि दक्षिणी क्षेत्रों के पर्यावरण को उत्तर के नियंत्रण से मुक्त कर दिया जाए ताकि पश्चिमी तरीकों और जीवन–पद्धति से जो हानि होती है, उससे बचा जाए। पश्चिम को भी नई संवेदनशीलता का आदर करते हुए अपनी जीवन पद्धति में इस तरह के परिवर्तन करने होंगे कि पृथ्वी के पर्यावरण को कम नुकसान हो। दक्षिण के लोगों की अपनी समझ और जानकारी ने उन्हें सदियों तक पर्यावरण को स्वस्थ बनाए रखने में मदद की है। इन्हीं स्रोतों से आज की समस्या का हल ढूँढ़ा जा सकता है, जिसमें पश्चिम शायद ही कुछ दे सकता है।

'एजेंडा साउथ' पर हस्ताक्षर करने वालों से कहा गया है कि वे सार्वभौमिक पर्यावरण तंत्र के विचार को रद्द कर दें, क्योंकि इस तरह का तंत्र उन्हीं पश्चिमी देशों के नियंत्रण में होगा जिनकी वजह से पर्यावरण को हानि हो रही है। विश्व बैंक जैसी अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संगठनों को पर्यावरण के सिलसिले में कोई भूमिका नहीं मिलनी चाहिए। सार्वभौमिक पर्यावरण तंत्र के बदले भौगोलिक और सांस्कृतिक आधार पर विभिन्न देशों के बीच क्षेत्रीय या द्विपक्षीय पर्यावरण संहिताएँ बनाई जानी चाहिए। दक्षिण के लोग ऐसे किसी भी सार्वभौमिक पर्यावरण तंत्र या संहिता को नामंजूर करते हैं जो उन पर थोपा जाए और जिससे उनका अपनी जीवन–शैली के अनुरूप जीना और प्रकृति से रिश्ता जोड़ना संभव न हो। दक्षिण के सांगठनिक सिद्धांत दरअसल स्थानीय समाजों की आपसी हिस्सेदारी पर आधारित हैं। क्षेत्रीय या अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था इन इकाइयों के बीच तालमेल और सहमति के आधार पर ही बनाई जा सकती है। पर्यावरण के संरक्षण के लिए बनाए जाने वाले किसी भी कोष में, पश्चिम की हिस्सेदारी उस मुआवजे के रूप में होनी चाहिए जो पश्चिम की कार्यवाहियों की वजह से पर्यावरण को हुए नुकसान के बदले में दी जाएगी। इस पर पश्चिम का कोई नियंत्रण नहीं होना चाहिए। इस एजेंडे पर गैर–यूरोपीय सदस्यों के साथ–साथ कई यूरोपीय सदस्यों ने भी हस्ताक्षर किए।

◆◆◆

# बागडोर संभालने का फैसला लेकर दिल्ली आइए

अगले महीने ५० लाख किसानों के दिल्ली आने की योजना है। पंद्रह किसान संघों के नेता और किसान आंदोलन से जुड़े कई नेता इस आयोजन पर बातचीत करने के लिए पिछले हफ्ते दिल्ली में मिल चुके हैं। ५० लाख किसानों का दिल्ली आना तो अच्छा ही है। देश की प्रजा का राजधानी के साथ और राजधानी की प्रजा के साथ परिचय तो होते ही रहना चाहिए। लेकिन दिल्ली आकर भारत के किसान करेंगे क्या? सरकार में ऊंचे पदों पर बैठे लोगों को रिश्वत व दलाली खाने से मना भर करने के लिए ५० लाख किसानों को दिल्ली इसकी जरूरत नहीं है।

यह ठीक है कि रिश्वत व दलाली में देश का बहुत सारा पैसा बर्बाद हो रहा है, लेकिन देश की समस्याएं तो भ्रष्टाचार के आजकल चल रहे किस्सों से कहीं ज्यादा गंभीर हैं। आज केवल रिश्वत व दलाली वाला पैसा ही नहीं, बल्कि सरकार के पास पहुंचने वाला सारा कर व कर्ज ही व्यर्थ जा रहा है। इस पैसे से चलाए जाने वाले सरकारी तंत्र में शायद कोई एक करोड़ लोगों को नौकरी मिल जाती होगी। इसके अलावा तो यह तंत्र लोगों के किसी काम नहीं आता। दिल्ली आने वाले ५० लाख किसान देश के जिन ५०–५५ करोड़ देहाती लोगों का प्रतिनिधित्व करेंगे, उनका तो इस सब से कुछ लेना देना ही नहीं रहता।

सरकारी शासन व विकास तंत्र को चलाने में देश का पैसा ही नहीं, प्राकृतिक साधन भी खराब हो रहे हैं। जो एक आध लाख लोग इस तंत्र को चलाते हैं, उन्हें तो देश के साधनों की रक्षा की विशेष चिंता नहीं है। वे सब अंतर्राष्ट्रीय प्रतिभा वाले लोग हैं। यहाँ

*(यद्यपि यह लेख सितम्बर १९८७ में लिखा गया था फिर भी यह आज भी प्रासंगिक है)*





के साधन चुक जाने पर वे तो यूरोप–अमेरिका भी जा सकते हैं, लेकिन भारत के किसान तो इस देश को छोड़ कर कहीं नहीं जा सकते। उन्हें तो यहीं रह कर जीना–मरना है। इसलिए यहाँ के साधनों को बचाने की चिंता भी उन्हीं को करनी होगी। साधनों को बचाने के लिए उन्हें विदेशों की नकल पर यहाँ चलाई जा रही खेती, सिंचाई, संचार व रिहाइश वगैरह की तकनीकों और समाज व शासन की व्यवस्थाओं पर दुबारा सोचना होगा। अपने साधनों को ध्यान में रखकर सभी व्यवस्थाओं और तकनीकों को दुबारा गढ़ना होगा।

किसानों के आज के कई नेता तो तकनीकों और व्यवस्थाओं के बारे में नए सिरे से सोचने की इस बात को नहीं मानते। वे पश्चिमी आधुनिकता वाले लोग हैं। वे मानते हैं कि देश का क्या बनाना है और कैसे बनाना है, यह तो पश्चिम के उदाहरण से निश्चित हो ही गया है। हमें वहीं जाना है जहाँ पश्चिम जा रहा है और उसी रास्ते पर चलते हुए आगे बढ़ना है जिस पर पश्चिम चलता रहा है। विभिन्न नेताओं में अंतर केवल इतना है कि उनमें से कुछ इस देश को पश्चिम वाली दिशा में तेजी से भगाना चाहते हैं और कुछ थोड़ा धीरे चलने में विश्वास रखते हैं। यहाँ तक कि अपने को सर्वोदयी मानने वाले काफी लोग भी उसी पश्चिमी आधुनिकता में थोड़ा देसी पुट दे कर उसे अपनाते जाते हैं। दिशा इन सब की एक ही है। इसलिए किसानों के पश्चिम की आधुनिकता से प्रभावित नेता कोई नई दिशा खोजने की बात नहीं करते। वे सिर्फ आर्थिक मामले उठाते हैं। उनके मुताबिक फसलों के लिए ऊँचे दाम पाना और कर्जे माफ करवा लेना ही किसानों की सक्रियता की सीमा है।

ये आर्थिक मांगे तो खैर उचित ही हैं। शरद जोशी कहते हैं कि दिल्ली आकर किसान घोषणा करेंगे कि अपने सिर पर अब वे किसी का कोई ऋण बकाया नहीं मानते। यह उऋण होना ही अच्छा है। किसानों को औद्योगिक साजो–सामान का ग्राहक बनाने के चक्कर में उन पर दसियों हजार करोड़ रुपए के ऋण चढ़ा दिए गए हैं। अब किसान और ऋण लेकर पिछले ऋणों की किस्तें भरने का सिलसिला तो जारी रख सकते हैं। लेकिन इस तरीके से वे कभी ऋण से मुक्त नहीं हो सकते। इस मुक्ति के लिए तो उन्हें राजनैतिक फैसला ही करना होगा। और दिल्ली आकर किसान ऐसा फ़ैसला कर लेते हैं तो यह उनके लिए और देश के लिए अच्छा ही होगा। किसानों के साथ–साथ हम इस देश को भी विदेशी ऋणों से मुक्त करवा लें तो और अच्छा है। यह तो अब बहुत लोग मानते हैं कि ये विदेशी ऋण असल में धोखा ही है। जो पैसा हमारे नाम पर लिखा गया है, उसका बड़ा हिस्सा तो विदेशी विशेषज्ञों की सेवाओं की कीमत चुकाने पर ही खर्च हुआ है। बाकी वहाँ से

मशीनें खरीदने में खर्च हो जाता है। ये मशीनें ऐसी नहीं होतीं कि इन्हें चला कर इन पर लगी पूंजी के अनुरूप लाभ  कमाया जा सके। इसलिए ऋण के बदले खरीदी गई सेवाओं और मशीनों को लेकर ऋण चुकाने का कोई आर्थिक रास्ता नहीं बचता। वहाँ भी उऋण होने के लिए एक राजनैतिक फैसले की जरूरत है। आगे–पीछे तो हमें यह कहना ही पड़ेगा कि अब हमारे सिर पर किसी विदेशी का कोई बकाया नहीं निकलता। किसानों को देखकर हम यह कहना सीख जाएं तो यह देश के लिए बड़ी बात होगी।

लेकिन सिर्फ आर्थिक मामलों को लेकर ५० लाख किसानों के दिल्ली में इकट्ठा होने की कोई तुक नहीं बनती। इतने सारे किसानों के दिल्ली आने का मतलब तो यही हो सकता है कि अब वे देश को चलाने की जिम्मेदारी लेने को तैयार हैं। देश की समस्याओं के बारे में अपने तरीके से सोचने के लिए उद्यत हैं। सोचने के लिए बहुत कुछ है। पानी की ही बात लीजिए। दिल्ली में जो बड़े–बड़े बंगलों के लंबे–चौड़े लॉन हैं, जगह–जगह सार्वजनिक पार्क हैं, बोट–क्लब के फव्वारे हैं, उन सब को बनाए रखने के लिए पानी दिया जा सकता है क्या? हमारे पास इतना पानी कहाँ से आएगा? जिस तरह के शहर बनाने हमने शुरू किए हैं, उनके चलते तो केरल में भी पानी की मुश्किल आने लगी है। केरल में तो पानी की बहुतायत रहा करती थी। दिल्ली में पानी कहाँ से आएगा? पानी नहीं होगा तो शहर का क्या करेंगे? यह सब किसानों को ही सोचना होगा।

इसी तरह लकड़ी की बात है। आज घर बनाने के लिए और ईंधन के लिए आम आदमी को लकड़ी नहीं मिल पाती। औद्योगिक विकास के नाम पर हमने बेरहमी से जंगलों को काट डाला है। जो लकड़ी बची है, उसे भी हम उद्योगों के लिए ही बरत लेना चाहते हैं। महाराष्ट्र में सरकार और कारखानेदारों में समझौता है, जिसके मुताबिक कागज़ बनाने के लिए कारखानों को बाँस पाँच–पाँच पैसे में या इससे भी कम में मिल जाते हैं। किसी देहाती को घर बनाने के लिए वही बाँस बाजार से पाँच–सात रुपए से कम नहीं मिलता। किसानों को यह फैसला करना होगा कि कागज़ ज्यादा जरूरी है या गांव के घर? कागज बनाने पर इतना बांस बर्बाद न किया जाता तो लोग अपने लिए कच्चे–पक्के मकान तो बना लेते। यह ठीक है कि आधुनिक युग में कागज के बिना काम नहीं चलता। खबर पहुँचाने के लिए अखबारों की जरूरत रहती ही है। लेकिन जरूरत तो आज बरते जाने वाले कागज व गत्ते इत्यादि के दसवें से भी कम हिस्से से पूरी हो जाती।

कोयले के बारे में भी औद्योगिक व घरेलू उपयोगों के बीच ठीक संतुलन के बारे में सोचना होगा। अभी बिजली बनाने वाले कारखानों को जिस भाव पर कोयला दिया जाता





है, उससे तीन चार गुना दाम पर भट्टी जलाने के लिए कोयला खरीदने वाले को देना पड़ता है। आज हालत यह है कि एक किलोग्राम कोयला जला कर बनाई गई एक यूनिट बिजली एक किलोग्राम कोयले के आधे से कम भाव पर मिल जाती है। लगता है कि इस देश को चलाने वालों ने फैसला कर लिया है कि कोयले का उपयोग तो बिजली बनाने में ही हो सकता है, आम आदमी को उसे ईंधन के रूप में बरतने का कोई हक नहीं। यह अलग बात है कि बिजली बनाते–बनाते कोयले का अस्सी प्रतिशत ईंधन ऊर्जा यू ही व्यर्थ चली जाती है। यह किसानों को सोचना होगा कि बिजली बनाना ज्यादा जरूरी है या खाना पकाने के लिए ईंधन उपलब्ध करवाना।

औद्योगीकरण के नाम पर हम एक ओर तो यहाँ उपलब्ध साधनों को लोगों से छीन कर बर्बाद कर रहे हैं, दूसरी ओर देश के बाजारों को विदेशों से मंगवाई गई या विदेशी तर्ज पर बनाई गई घटिया चीजों से भर रहे हैं। यहाँ तक कि विदेशों से अनाज के जो बीज भी हम लेकर आए हैं, वे एकदम घटिया हैं। इन बीजों से झाड़ अच्छा हो जाता होगा, लेकिन जो अनाज उगता है उसे तो कोई संपन्न विदेशी अपने खाने के योग्य नहीं समझता। आज जब निर्यात के लिए गेहूँ उगाने की बात हो रही है, तो हमारे वैज्ञानिक और राजनेता बढ़िया किस्म के बीज लाने की सोच रहे हैं। हमारे लोगों के लिए तो वे शायद वही अनाज चुनकर लाए थे जो विदेशों में पशुओं के चारे के काम आता है। असल में लगता है कि सरकारी विकास तंत्र के लोगों में अपने देश और अपने देशवासियों की कोई कद्र नहीं रही है। किसान उन्हें देशवासियों की कद्र करना सिखा सकते हैं। आखिर हमारे ये अफसर, राजनेता और विज्ञानी किसानों के ही लड़के हैं। वे पढ़–लिख गए हैं और अपने को किसी दूसरी दुनिया के जीव समझने लगे हैं। किसान दिल्ली आ रहे हैं तो उन्हें अपने लड़कों को बताना होगा कि वे यहीं के जन्मे–पले लोग हैं।

औद्योगीकरण में अंधाधुंध देश के प्राकृतिक साधन बर्बाद करने और देशवासियों को घटिया व सस्ती चीजें बरतने पर मजबूर करने के लिए सरकारी तंत्र के पास एक बहाना है। उसका कहना है कि आज के युग में जीने के लिए विदेशों में बनने वाले आधुनिकतम हथियारों और वहाँ की आधुनिकतम तकनीक की जरूरत है। इन्हें खरीदने के लिए जरूरी है कि यहाँ के साधन बेचे जाएँ। लेकिन हमें इन चीजों की जरूरत  है तो हम इन्हें बना क्यों नहीं लेते? आज देश में इस बात पर कोई बहस नहीं है कि हमें हथियार चाहिए या नहीं। सभी मानते हैं कि हमें पश्चिमी तर्ज के हथियारों, आणविक तकनीकों और शायद उपग्रह तकनीकों की भी निहायत आवश्यकता है। देश रक्षा के लिए शांति सेना बनाने की

बात आज कोई नहीं करता। इन चीजों की जरूरत मान ही ली गई है तो फिर इन्हें खुद बनाने की हिम्मत क्यों नहीं की जाती?

इस तरह का साजो—सामान खुद बनाने के बजाए विदेश से खरीदने के लिए तर्क यह दिया जाता है कि हमारे पास इनको बनाने के लिए, कारखाने लगाने के लिए काफी पूँजी नहीं है। इसी तर्क के आधार पर हम स्वीडन से तोपें खरीदते हैं, जर्मनी से पनडुब्बियाँ खरीदते हैं, चेकोस्लोवाकिया से पिस्तौल लाते हैं और इंगलिस्तान से पुराने नाकारा हो चुके विमान—वाहक पोत। इस तरह तो पश्चिम की नकल भी नहीं हो सकती। खुद चीजें बनाने की जगह विदेशों से खरीददारी करने के पक्ष में पूँजी की कमी वाला जो तर्क दिया जाता है, वह विचित्र है। पश्चिम के पास यह सब करने के लिए पूँजी कहाँ से आई थी? जिस पश्चिम की बात आजकल हम करते हैं वह सौ साल से ज्यादा पुराना नहीं है। सौ साल पहले वहाँ बिजली, रेल, मोटर—गाड़ियाँ, हवाई जहाज आदि कुछ नहीं हुआ करते थे। इन चीजों का आविष्कार ही लगभग सौ साल पहले हुआ है। इनका व्यापक उपयोग तो और भी बाद की बात है। पश्चिम में आज दिखने वाली समृद्धि तो शायद पिछले तीस—चालीस साल में ही पनपी है। पश्चिम कई सदियों से अमीर नहीं चला आ रहा है। इससे पहले पश्चिम के पास भी कोई पूँजी नहीं थी।

फिर पश्चिम ने अपनी तर्ज का यह विकास कैसे किया? या तो यह माना जाए कि यह सब विश्व भर में की गई लूट का परिणाम है। लूट तो पश्चिम ने की ही थी। वहाँ के विकास में इस लूट की काफी बड़ी भूमिका भी रही होगी। जिस तरह का विकास वहाँ हुआ है उसे करने के लिए दिमाग तो लूट की वृत्ति से ही बना होगा। लेकिन वहाँ लगी पूँजी में लूट का हिस्सा शायद बहुत बड़ा नहीं रहा होगा। अगर सच यही है कि वहाँ का सारा विकास लूट की पूँजी पर आधारित है, तब तो उनके साथ किसी तरह के भाईचारे की बात नहीं हो सकती। उस हालत में तो हमें अपनी अलग दिशा बनाने के बारे में और भी गंभीरता की जरूरत है।

पूँजी की कमी वाली बात पूँजी के अर्थ को न समझ पाने के कारण की जा रही है। पूँजी आखिरकार एक अर्थशास्त्रीय कल्पना मात्र है। वास्तविक चीज तो प्राकृतिक साधन और लोगों का श्रम ही होता है। इनके उपयोग का संकल्प हो तो रुपए—पैसे की गणना की जरूरत नहीं रह जाती। लेकिन अपने साधन अपने तरीके से बरते बिना सब कुछ बाहर से ही खरीदना हो तो पूंजी की कल्पना ही अकेली वास्तविकता बन जाती है। हर चीज की कीमत रुपए—पैसे में आँकी जाने लगी है। अपने साधन और श्रम अपने लिए ही बरतने





हों तो इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि बाजार में उनकी कितनी कीमत बैठ रही है।

विकास के लिए सबसे अधिक जरूरी पूँजी नहीं होती। जरूरत होती है कुछ कर डालने के संकल्प की और उसके साथ मेहनत, अक्ल व तपस्या की। १९वीं सदी के आखिर में जापान का पश्चिम के बराबर बनाने के तरीकों के बारे में सोचते हुए, वहाँ के योजनाकारों ने देश बनाने के लिए जरूरी इन चीजों की बहुत साफ व्याख्या की थी। उनका कहना था कि इस काम में अगर दस इकाइयों की जरूरत हो तो उनमें से पाँच इकाइयाँ होंगी आपकी कल्पना और संकल्प, चार होंगी इस कल्पना को साकार करने के लिए जरूरी व्यवस्थाएँ, नियम व कानून गढ़ने की बुद्धि और सिर्फ एक इकाई होगी पूँजी और साधनों की।

इन विचारों पर चलते हुए ही जापान में १८८४ में एक दस साला योजना बनाई गई थी। यह योजना इतनी विस्तृत थी कि तीस ग्रंथों में यह पूरी लिखी जा सकी थी। इसको सारे जापान में सभी महत्वपूर्ण लोगों तक पहुँचाया गया था। फिर अपने साधनों और अपनी हिम्मत के सहारे जापान ने इतनी प्रगति की थी कि कुछ ही दशकों में वह अमेरिका और यूरोप से मुकाबला करने के काबिल हो गया था। इस काम में उसने विदेशों से कुछ थोड़ा—बहुत सीखा जरूर था। योजना के अनुसार विदेशियों को तीन—तीन, चार—चार साल के लिए बुलाया जाता था और फिर वापस भेज दिया जाता था। विदेशी लोग जापान की योजना के अनुसार ही काम करते थे। विदेशी विचार और तकनीकें भी वहीं बरती जाती थीं जहाँ वे जापानी योजना में ठीक बैठती थीं। जापान दुनिया की तकनीकी जानकारी को अपने लिए बरता रहा था, दुनिया द्वारा बरता नहीं जा रहा था।

हमें भी इस देश को कहीं ले जाना है तो कुछ ऐसी योजना बनानी होगी जिससे अपने साधनों और श्रम को ढंग से बरतने का संकल्प पैदा हो सके और विदेशी जानकारी को अपने तरीके से ढालने की कुशलता आ सके। लगता है हमें एक बार फिर स्वदेशी आंदोलन चलाना होगा। शिक्षा, राजनीति, खेती, उद्योग वगैरह के बारे में अपने ढंग से सोचना शुरू करना होगा। देश को अपने तरीके से बनाते हुए हो सकता है कि हमें कुछ चीजें और विचार बाहर से लेने पड़ें। लेकिन हर क्षेत्र में मुख्य चेतना तो देसी ही होगी। फिर बहुत सारी बातों में तो विदेशों से कुछ लिया ही नहीं जा सकता। उदाहरण के लिए हम सिंचाई तकनीकों का विकास करते आए हैं। यूरोप व अमेरिका में तो सिंचाई हुआ ही नहीं करती। फिर इस मामले में वे हमें क्या सिखा पाएंगे। इसी तरह लोहा व इस्पात बनाने की तकनीकों की बात है। बढ़िया टिकाऊ लोहा व इस्पात बना पाना आज के धातु विशेषज्ञों के लिए भी

एक अबूझ समस्या है। लेकिन हमारे लोग तो सदियों से यह काम करते आए हैं और हाल तक करते रहे हैं। अपने देश की जनता के इन हुनरों को भुला कर हम बाहर से क्या–क्या सीखते फिरेंगे?

किसान दिल्ली आते हैं तो उन्हें छोटे–छोटे मुद्दों से हटाकर इन सब प्रश्नों पर सोचना होगा। उन्हें सोचना पड़ेगा कि इस देश को आगे कैसे चलाना है। दिल्ली वाले तो उन्हें बताएंगे कि उन्हें इस सब की चिंता करने की जरूरत नहीं है। हम दिल्ली वाले ही इस देश को चला लेंगे। १९४७ में भी दिल्ली वालों ने जनता को यही बताया था कि आप वापस घर जा सकते हो। देश को चलाने का काम हम खुद कर लेंगे। लेकिन इन गिने चुने लोगों से कुछ चल नहीं पाया है। इन पढ़े–लिखे लोगों को शायद कुछ चलाना आता भी नहीं है। यह देश तो आखिर किसानों को ही चलाना पड़ेगा। उन्हें ही इसे दिशा देनी होगी। किसानों का दिल्ली आना तभी सफल होगा, अगर वे इस दिशा में कुछ शुरुआत करेंगे। ५० लाख लोग दिल्ली तफरीह करने नहीं आया करते। दिल्ली तो सरकार को दिशा दिखाने के लिए आया जाता है।

◆◆◆

# भारतीयता को प्राणवान करने का प्रश्न

हमें पिछले ३०० वर्षों को, और हो सके तो पिछले १०००–१५०० वर्षों को जानने–समझने की आवश्यकता है। हम कई शताब्दियों से एक बड़ी दलदल में फंसे हैं। जैसे–जैसे समय बीतता गया, यह दलदल और गहरी हो गयी। हमारी राजनैतिक, सामाजिक व बौद्धिक अकर्मण्यता का कारण इस दलदल में फंस जाना है। इस दलदल का एक छोटा भाग तो भारत में इस्लाम राज्य के समय की देन है। लेकिन यह दलदल देशव्यापी और गहरी तो अंग्रेजों का साम्राज्य भारत में स्थापित होने और उसके विस्तारित होने से ही बनी।

१७०० ई. के करीब ऐसा लगता था कि हम दोबारा खड़े हो जायेंगे और अपने समाज, राजनीति व सांस्कृतिक विचारों और व्यवस्थाओं में दोबारा से सामंजस्य ला देंगे। यह प्रयास आरंभ भी हुआ; विशेषतः महाराष्ट्र, आंध्र इत्यादि क्षेत्रों में, लेकिन जल्दी ही इसमें यूरोप की बड़ी बाधा आ खड़ी हुई। यदि ऐसी बाधा तब न होती तो संभव था कि एक शक्तिशाली और मैत्री से ओतप्रोत राष्ट्र बन जाते; अपने पड़ोसियों का भी साहस व सामर्थ्य बढ़ाते ओर ३०० वर्षों से चल रही यूरोपीय सभ्यता की सतत मार से संसार को बहुत कुछ बचा लेते। लेकिन उल्टा ही हुआ और हम इंग्लैंड से (जिसकी सेनाओं में अन्य यूरोपीय देशों के अफसर व सैनिक भी थे) २०–३० वर्षों में ही परास्त हो गये। अंग्रेजों के विचारों एवं कार्यों ने हमारे समाज को तोड़ा, उसे रूढ़िग्रस्त बनाया और हमारे कुछ लोगों को (उनकी संख्या आज शायद ५–१० लाख होगी) “बिना समझ का अंग्रेज” बना दिया

*(यह लेख नवम्बर–दिसम्बर २००१ में लिखा गया था)*

और अंत में उन्होंने ऐसे ही "अंग्रेजों" को भारत का राज्य सौंप दिया।

मेरी सोच में गांधीजी ने भारत की ऐसी स्थिति को अन्य सभी भारतीयों से अधिक समझा। हालांकि उन्हें पश्चिम की शक्ति, कौशल और कूटनीति का अच्छा अंदाजा था, लेकिन अपने देश के पश्चिमीकृत हुए लोगों में कितनी गहरी मानसिक गिरावट आयी है, इसका अंदाजा शायद उन्हें ठीक से नहीं था। फिर भी, इनमें से बहुत से गांधीजी के सैनिक बने और जैसा उन्होंने कहा, उसे अधिकांशत: माना लेकिन वैचारिक व बौद्धिक स्तर पर पश्चिम की जो छाप इन लोगों पर थी, वह मिट नहीं पायी। जैसे–जैसे स्वतंत्रता करीब दिखने लगी, ये पश्चिमीकृत लोग धीरे–धीरे गांधीजी से हटकर पश्चिमी दृष्टिकोण, योजनाओं और व्यक्तियों के करीब पहुँचने लगे। यह कोई साजिश नहीं थी, जिस तरह का समाज व व्यवस्थाएँ भारत में थीं और बढ़ रही थीं, उसमें ऐसा होना ही ज्यादा स्वाभाविक था। हमारे पश्चिमीकृत लोगों ने हथियार डाल दिये और जो अंग्रेज चाहते थे, वह उन्होंने धीमे–धीमे स्वीकार कर लिया।

अगर हमारे इन पश्चिमीकृत लोगों में यूरोपीय लोगों जैसी मानसिकता, दु:साहसीपन होता और लोगों पर पूरी तरह से नियंत्रण रखना आता, होता तो शायद यह संभव था कि हम जापान की तरह या चीन की तरह यूरोपीय रास्तों पर चल पड़ते। लेकिन ऐसा लगता है कि हमारे पश्चिमीकृत लोगों में यूरोप की आज की समृद्धि एवं तंत्र के लिये आकर्षण तो बहुत है परंतु अभी तक उनकी समझ नहीं बन पाई है कि यूरोप ने अपने को आज जैसा किस ढंग से बनाया और उसके लिये कौन से सैंकड़ों–हजारों कदम उठाये। इसलिए मुझे लगता है कि यूरोप के रास्ते को किसी भी तरह से ग्रहण करना हमारे लिये गलत ही है।

मुझे नहीं मालूम कि हम आज की इस कठिन स्थिति से कैसे निकलेंगे। इसके शायद बहुत से रास्ते होंगे; कुछ एक–दूसरे से उल्टे भी। लेकिन इन सब पर भारत के सभी वासियों, विशेषकर साधारण किसानों, कारीगरों, मजदूरों को गहरे ढंग से सोचना है और सोचकर कमर कसनी है। तब कोई कारण नहीं कि हम एक पीढ़ी में ही इस दलदल से पूरी तरह उभर न पायें।

हम भारतीयता को कैसे प्राणवान् करें और कैसे उसका साहस एवं उत्साह वापस लायें, ये प्रश्न हम सभी के लिये विचारणीय हैं।

◆◆◆



# भारतीय संस्कृति ही दिशा दे सकती है

वैसे तो भारत पिछले २०–३० वर्षों से विश्व शक्तियों के बढ़ते दबाव में है। भारत के गांव के प्राथमिक स्कूल भी उनके आदेश व सहायता से चलने लगे हैं। बसों का किराया बढ़े, यह भी उनके आदेश से होने लगा है। सड़कें कैसी हों, कितनी चौड़ी हों, इसके आदेश भी बाहर से आने लगे हैं। यहाँ तक कि सेवाग्राम आश्रम जैसे स्थान भी चौड़ी–चौड़ी सड़कों से घिरने लगे हैं। जबकि ऐसे स्थानों और स्थलों की शांति व पवित्रता के लिये यह आवश्यक था कि उनके आस–पास अधिक मोटर गाड़ियाँ व दूसरे वाहन न चलें। विदेशों में हमारा सामान ज्यादा से ज्यादा जाये, इसमें पिछले पचास बरसों में हम अपनी हर कला और उद्योग का विनाश ही कर चुके हैं। और कुछ महीनों से खादी ग्रामोद्योग आयोग इसमें लगा है कि हम खादी से अमरीकी जीन्स कपड़ा डैनिम और उससे जीन्स बनवायें और उन्हें विदेशों में भेजें।

हमारी खेती में तो बड़े पैमाने का बगैर सोचे–समझे विदेशीकरण हो चुका है। हमारे गावों में कृषि व ग्रामोद्योग के उजड़ने का एक बड़ा कारण यह हमारी बेसमझी की नकल है। ये ही बेसमझी हमें आधुनिकता को समझने से भी दूर रखती है – चाहे वो तकनीकी के प्रश्न हों, व्यवस्था के, या हमारी अपनी दिशा के। भारत की मानसिकता, उसकी प्राथमिकतायें, उसकी प्राकृतिक उपलब्धियाँ हमारे आज के देश चलाने वाले लोग समझ नहीं सके हैं। दो हजार बरस से यूरोप व अरब लोग मुख्यत: अंतर्राष्ट्रीय व्यापार व लूटमार पर जीवन चलाते थे और हमने भी बेसमझी में मान लिया है कि बाकी विश्व का भी वही

*(यह लेख अप्रैल १९९९ में लिखा गया था)*

तरीका है। लेकिन हमारे यहाँ तो हमारी आवश्यकताओं की सभी वस्तुएँ साधारणत: प्रचुर मात्रा में पैदा होती थीं, बनती थीं और हमें उनका व्यवस्थित उपयोग आता था। उनमें से मुख्य खाना, कपड़ा, रहने की जगह, सांस्कृतिक अभिव्यक्ति — हमारे यहाँ के सब लोगों को उपलब्ध रहा है, यह हम भूल गये दिखते हैं। अधिकतर इस तरह की भूलें तो हमारे यहाँ पिछले पचास बरस से शुरू हुईं और अब तो हम सब पढ़े–लिखे, अच्छे खाते–पीते (चाहे किसी भी दल व सम्प्रदाय व वाद के हों) इन भूलों को सत्य वाक्य जैसे मानने लगे हैं। हममें वैसे तो पराये के लिये कोई प्रेम व निष्ठा नहीं पैदा हुई, लेकिन यह जरूर हो गया है कि हमें अपने और पराये (व्यक्ति, व्यवस्था, तकनीक, विज्ञान) में जो भेद होते हैं, वह समझ में नहीं आते। स्वदेशी के प्रचार में जो लोग आज लगे हैं, उनमें से भी अधिकांश को नहीं।

यह ऊपर जो कहा है वह अधिकांशत: तो हमारे २००–२५० बरस की योरोपियनों की दासता का परिणाम है और पिछले ५० बरस में हमारे ऊपर जो बाहर का दिन–पर–दिन बढ़ता दबाव है, उससे इसका भारतव्यापी विस्तार हुआ है। हम समझ कर और लगकर प्रयत्न करते तो इसमें से निकल आते। लेकिन इन ३०–४०–५० बरसों की हमारी सोच और कार्य हम पर और एक नयी विपत्ति ले आये है। देखने में जो विपत्ति आई है, वह वैसे तो १२–१४ बरस पुरानी ही है लेकिन उसका आरम्भ व जड़ें तो यह जो हमारा संविधान है, जिसको हमने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से सीखा और उधार लिया, उसमें है।

अंग्रेजों ने ३००–४०० बरस पहले क्रोमवेल के मध्य सत्रहवीं सदी के समय से अपने यहाँ दो दलों को लेकर राजव्यवस्था बनानी शुरू की। वह कमोबेश अभी भी अंग्रेजों के यहां चलती है। समय चलते–चलते कोई और नया दल बनता है — जैसे १९वीं सदी के अन्त में ब्रिटिश लेबर पार्टी बनी, तो पुरानों में से एक दल क्षीण पड़ जाता है जैसे विग व लिबरल क्षीण हुए। लेकिन ब्रिटेन एक छोटा देश है, उत्तर प्रदेश से भी क्षेत्रफल में छोटा और आबादी में तो आधा ही। फिर राजनीतिक दल ही ब्रिटेन के लोगों के मुख्य संरक्षक व सहारा नहीं हैं। ब्रिटेन में पचासों ईसाई सम्प्रदाय हैं जिनसे अलग–अलग लोग, पूरे मुहल्ले व गांव भी सम्बधित हैं। इसके अलावा वहाँ के पुराने धनवान और शक्तिशाली लोगों के क्लब हैं, जहाँ देश की स्थिति पर विचार होता रहता है और अक्सर बड़े–बड़े फैसले भी ऐसे स्थानों पर होते हैं। यह जरूर है कि यह दो व तीन राजनीतिक दलों का बारी–बारी से सरकार चलाने का तरीका ब्रिटेन से अमरीका, यूरोप व जापान तक गया है। लेकिन अमरीका इत्यादि में इस तरीके को अपनी तरह से समझा गया है, खपाया गया





है और जहाँ–जहाँ वह नहीं खप पाया, जैसे दक्षिण अमेरिका व अफ्रीका के देशों में, वहाँ जब–तब डिक्टेटरशिप चलती ही है।

पिछले पचास बरस से हमारी राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक स्थिति दक्षिण अमरिका व अफ्रीका के देशों जैसी होने लगी है। भारत की लोक सभा व राज्य सभा और प्रदेशों की विधान सभायें भी कंकाल जैसी होती जा रही हैं। हमारा "स्टील फ्रेम" कहा जाने वाला अंग्रेजों का दिया तंत्र व ढाँचा भी अब शक्तिहीन ही है। उसके बस में अब लोगों को लगातार भयभीत कर लेना नहीं है, जो कि ब्रिटिश समय में उसका मुख्य काम था, लेकिन लोगों के रास्ते में बाधायें डालते रहना तो अभी तक है ही। इस राजनीतिक व्यवस्था और शासन तंत्र की एक और बड़ी देन है कि उसने देश के लोगों को बाँट दिया है, परिवार–परिवार में व्यक्तियों को बाँट दिया है, मोहल्लों–मोहल्लों में, गांव–गांव में, जिससे भारत के १० से १५ प्रतिशत लोग तो सरकारी व्यवस्था के खंबे बन गये हैं और बाकी ८५ से ९० प्रतिशत निरुत्साहित, कंगाल और साधनहीन। देश का मुहल्ला–मुहल्ला, गांव–गांव, नगर–नगर बँट चुका दिखता हैं। बँटना तो अंग्रेजों के समय में ही आरम्भ हो गया था लेकिन हम उसे अब पूरा करने में लगे दिखते हैं।

इस तरह के बंटाव की एक भयंकर शुरूवात दिल्ली के सांसदों और विधानसभा के सदस्यों को लेकर शुरू हुई। बहाना रहा कि दो–चार सदस्य, जिन्हें आयाराम–गयाराम नाम दिया गया, एक राजनीतिक दल छोड़कर दूसरे दल में जाते रहते हैं और दलबदल होता रहता है तथा इसमें धन व पद का लालच भी काम करता है। यह दल बदल तो कोई नयी बात नहीं, हजारों बरसों से यह जहाँ–तहाँ होता ही रहा होगा। इसके अलग–अलग इलाज भी होंगे। ब्रिटेन में तो जो पार्लियामेंट के सदस्य अपने दल के साथ मत नहीं देते, उन्हें दल से नहीं निकाला जाता, लेकिन उनका सामाजिक बहिष्कार जैसा होता है, लेकिन उनके दल में वापिस आने का रास्ता खुला रहता है। और देशों में भी ऐसा ही कुछ होता होगा। लेकिन हमारे विद्वान राजनीतिकों व उनके सलाहकारों ने तय किया कि जो सदस्य हर तरह से साथ नहीं देता, उसको न केवल दल से ही निकाल दिया जाये बल्कि उसका फौरन ही राजनीतिक प्रतिनिधित्व भी समाप्त कर दिया जाये। वैसे जो सदस्य चुनकर सांसद या विधायक बनता है, वह अपने क्षेत्र का प्रतिनिधि होता है, न कि किसी दल का दास। उसको डाँट–फटकार या हुक्म देने का अगर किसी को अधिकार है, तो उसके क्षेत्र को न कि राजनीतिक दल को। दल में वह स्वायत्त ही आया है और दल ठीक–ठाक चलता है, न्याय करता है तो वो साधारणत: उसमें रहेगा ही। उसका किसी कारणवश विचार या ध्येय

बदलता है तो उसे तो उसका क्षेत्र ही संभाल सकता है।

लेकिन हमने तो ब्रिटिश राज्य के शुरू से ही यहाँ के समाज और लोगों के रास्ते में रुकावटें डालना ही सीखा है, या कानूनों के छिद्र बंद करना। रुकावटें डालने व छिद्र बंद करने का परिणाम यह हुआ कि यह देश फिर से आलस्य से भर गया। वैसे तो आज का सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक ढाँचा इन २००—२५० वर्षों में, या और पहले से ही जर्जर होता गया है लेकिन पिछले ८—१० बरसों से भारत का जो बेहाल हुआ है उसका मुख्य कारण सांसदों को दल का भृत्य (दास) व कैदी जैसा बना देना है। वैसे भारत का संविधान और उसकी संसद, विधान सभाये इत्यादि तो मूलत: दोबारा बनानी होंगी, लेकिन जब तक यह सब नया ढाँचा बने, तब तक कुछ कदम तो उठाने ही पड़ेंगे। उनमें एक कदम तो सांसद इत्यादि को स्वतंत्र कर देना और उनको उनके क्षेत्रों से जोड़ देना होगा। दूसरा कदम, यह आवश्यक है कि संसद, विधान सभा इत्यादि जितने वर्षों के लिये चुनी जाये, उतने वर्ष अवश्य चले। सरकार की किसी विषय पर बात नहीं मानी जाय तो ऐसा होना हर समय उसकी हार नहीं मानी जानी चाहिये। बात नहीं माने जाने का मतलब है कि वह अपना रास्ता बदले। उससे फिर भी काम न चले तो उसी संसद व विधानसभा में से दूसरी व तीसरी सरकार बन जाय। देश को साधारणत: व्यवस्थित रखना और प्रजा को अभय जैसा रहे यह संविधान का, संसद का, विधान सभाओं का और राजनीतिक गिरोहों का प्रथम काम है।

अखिल भारतीय राजनीतिक गिरोहों का या दूसरे वैज्ञानिक, आर्थिक, व्यावसायिक गिरोहों का दबदबा व झूठी प्रतिष्ठा जितनी भी कम हो, उतना देश के लिये अच्छा है। क्षेत्रों की देखभाल तो प्रदेश ही कर सकेंगे और प्रदेश मिलकर ही भारत को संभाल सकेंगे, सुव्यवस्थित रख सकेंगे, समृद्धि दे सकेंगे और विश्व के परिप्रेक्ष्य में शक्तिशाली और बराबर रख सकेंगे। भारतीय केंद्र व्यवस्था से यह कभी होने का नहीं है, यह तो एक प्रवंचना है। केंद्र तो प्रदेशों का संघ ही चला सकेगा और ऐसा संघ ही तय कर सकेगा कि केन्द्र को कौन—कौन काम सौंपे जायें, क्या—क्या साधन उसे उपलब्ध कराये जायें।

प्रदेशों को राजनीतिक व अन्य गिरोहबन्दियों के मर्यादों में रहने का सोचना होगा। देश प्रजा के लिये होता है और उसकी संस्कृति उसे दिशा देती है और यह बताती है कि दूसरी सभ्यताओं से वह कैसे संबध बनाये। यह अवश्य है कि हमें शक्तिशाली होने की आवश्यकता है। लेकिन शक्ति तो कई तरह से बनती है केवल हावी व लूटेरे लोगों के रास्ते से ही नहीं। इस पर ध्यान देना हमारे विद्वानों व मनीषियों का काम है। ◆◆◆

# हमारी सभ्यता की मर्यादाएँ, मान्यताएँ व गाय

यह भारतीय सभ्यता की एक मुख्य मान्यता है कि इस सृष्टि में जितने भी जीव हैं, उन सब में ही ईश्वरीय तत्व है। इसी में से सब जीवों के पुनर्जन्म की मान्यता भी निकली दीखी है। क्योंकि सब जीवों में ईश्वरीय तत्व माना गया है, इसलिए उन्हें दु:ख देना या उनका वध करना भारतीयता में अनुचित (पाप) माना गया है। लेकिन सब जीवों में कुछ जीव दूसरे जीवों से श्रेष्ठ भी माने गये हैं। आदि काल से अब तक भारतीय विचार में गाय का स्थान सब जीवों में ऊँचा है — मनुष्य से भी ऊँचा।

भारत में गाय के श्रेष्ठ और अवध्य माने जाते हुए भी पिछले कई सौ वर्षों पहले बाहर से आये आक्रमणकारियों ने जहाँ—जहाँ राज्य पर कब्जा किया, गाय का वध होने लगा। वैसे ब्रिटेन और यूरोप के कुछ विद्वान १८६० के करीब से भारतीयों को ऐसा बतलाने लगे हैं कि भारत के आदिकाल के ऋषि विशेष अवसरों पर गौमाँस खाते थे। इसी पश्चिमी बात को पुष्ट करने के लिए कई लेख व पुस्तकें लिखी गई हैं। कुछ गिने चुने भारतीय लेखक भी पिछले सौ सवा सौ बरसों से इस बात को पुष्ट करने की कोशिश करते रहे हैं। लेकिन इन सब प्रयासों के बाद भी गाय के किसी काल में वध्य होने की बात भारतीयों को मान्य नहीं हो पाई।

किन्तु गाय को श्रेष्ठ और अवध्य मानते हुए भी कई सौ वर्षों से भारत में गाय का वध होता रहा है। इसका विशेष आरम्भ इस्लाम के विजेताओं के भारत आने पर आरम्भ हुआ। जहाँ से इस्लामी विजेता आये थे, वहाँ तो कई तरह से भेड़ बकरी व ऊँट का माँस

---

*(यह लेख दिसम्बर २००१ में लिखा गया था)*

खाया जाता था। गाय खाने का तो प्रश्न नहीं था क्योंकि गाय विशेषकर वहाँ होती नहीं थी। भारत आने पर इस्लामी विजेता, उनकी सेनाएँ इत्यादि, धीरे–धीरे इस्लामी उत्सवों पर, विशेषकर एक उत्सव बकरीद पर, ऊँट की जगह गाय का बलिदान करने लगीं और उसे जब–तब खाना शुरू किया। इस्लाम के विजेताओं और भारतीय जनता का रोष होने पर भी भारतीयों को नीचा दिखलाने के लिए इस्लाम के विजेताओं ने गाय को कभी–कभी, उत्सवों के अलावा, और अवसरों पर भी मारा। इस्लाम के विजेता क्योंकि भारत के अलग–अलग भागों पर राज्य करने की दृष्टि से आये थे, इसीलिए उनकी यह कोशिश भी रही कि भारतीयों की नाराजगी अधिक नहीं बढ़े और इसीलिए गाय के प्रश्न को लेकर उनमें से बहुतों की कोशिश रही कि गाय का वध कम से कम किया जाये। ऐसा माना जाता है कि बहुत से इस्लामी विजेता राजाओं ने समय–समय पर गौवध पर पूर्ण पाबन्दी लगायी। इन पाबन्दी लगाने वाले इस्लामी राजाओं में बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहांगीर और औरंगजेब का भी नाम लिया जाता है। ऐसी पाबन्दी कब से कब तक रही और एक बरस में अधिक–से–अधिक (१२००–१७०० ई. तक) कितनी गायों का वध किया गया, इस पर हमारे यहाँ कोई विशेष अनुसन्धान अभी तक नहीं हुआ है।

यह माना जा सकता है कि औरंगजेब की मृत्यु के समय से इस्लामी राज्य का पतन शुरू होने पर १७०० ई. के बाद भारत में गौवध प्राय: समाप्त ही हो गया। ऐसा भी माना जा सकता है कि अगर यूरोप के लोगों का भारत पर कब्जा नहीं शुरू हुआ होता, तो भारत में ईस्वी १८०० तक गौवध पूर्ण रूप से बन्द ही हो गया होता।

भारत में आज जो गौवध है, वह यूरोप के लोगों के, विशेषत: ब्रिटेन के, यहाँ रहने और यहाँ धीरे–धीरे अपना राज्य स्थापित करने पर ही शुरू हुआ। यूरोप के लोग पिछले दो हजार वर्ष से या और अधिक समय से गौमाँस के मुख्य भक्षक रहे हैं। इसीलिए वे जब यहाँ आये और यहाँ के राज्यों पर उन्होंने अपना कब्जा करना शुरू किया, तभी भारत में यूरोपियनों व अंग्रेजों द्वारा गौवध बढ़ता चला गया। १८०० ई. के करीब भारत के काफी बड़े हिस्से पर अंग्रेज छा गये थे। उस समय भारत में उनकी ब्रिटिश सेना बीस हजार के करीब रही होगी। एक–दो लाख और अंग्रेज व यूरोप निवासी भी रहे होंगे। इन सबके लिए प्रतिदिन गौमाँस की इन्हें आवश्यकता रही। उसके लिए गाय को काटने वाले तो भारत में पहले कभी नहीं रहे थे। वैसे भारत में माँस बिलकुल नहीं खाया जाता था, ऐसी बात नहीं है। अलग–अलग पशु तो एक सीमा के अन्दर काटे ही जाते थे। इन्हीं काटने वालों को अंग्रेजी राज्य ने तरह–तरह के लालच देकर गाय काटने के लिए बढ़ाया दिया। और तब





से इस व्यवसाय के लोगों की संख्या बढ़ती ही चली गई। जबकि १८०० ई. के करीब ब्रिटिश सेना की संख्या भारत में २०,००० के करीब थी, और १८५६ में ४५,००० के करीब। सन् १८५८ के बाद वहीं संख्या एक लाख हो गई और अगले पचास वर्ष यानि सन् १९१० के करीब तक यह एक लाख के करीब ही रही। यदि हिसाब लगाया जाये तो माना जा सकता है कि गाय को काटने वालों की संख्या १८०० ई. व १९०० ई. के बीच १० गुना बढ़ गई होगी।

अंग्रेजी शासन ने अपनी सेना और दूसरे अंग्रेजों व यूरोपियों के लिए तो गाय कटवायी ही, साथ–साथ न केवल गाय को काटने वाले संख्या में दसियों–बीसियों गुना बढ़े, बल्कि ब्रिटिश राज्य का यह भी प्रयत्न रहा कि कम से कम ईसाइयों और मुसलमानों में गाय माँस का उपयोग बढ़े। इनका गाय माँस खाना इसलिए भी अंग्रेजों को आवश्यक लगता था ताकि यह कहा जा सके कि मुसलमान तो पहले से ही गाय खाते हैं। और इस तरह इसे भारतीय परम्परा के रूप के तौर पर स्थापित किया जा सकता है, क्योंकि इस्लाम का भारत में काफी भागों में राज्य रहा और उन्होंने गाय को काटा, इसलिए अंग्रेजों को भी यहाँ के राजा माने जाने पर गाय काटने का अधिकार हो जाता है। यह अलग बात है कि इस्लाम के लोग तो कभी–कभी ही गाय काटते थे और अंग्रेजी शासन तो प्रतिदिन। लगता है इस बात के औचित्य पर कभी कोई खुली चर्चा नहीं हुई।

१८५८ के बाद इतने बड़े पैमाने पर गौवध होने के कारण भारत में, और विशेषत: उत्तरी भारत में, जहाँ की ब्रिटिश सेना बहुत बड़ी संख्या में बढ़ी, सभी भारतीयों में बड़ा रोष आरम्भ हुआ। १८७० ई. के बाद इस रोष में से गौवध के विरोध में बहुत से आन्दोलन निकले। इसका आरम्भ नामधारी सिखों ने, जिन्हें कूका कहा जाता था, किया। उसके बाद स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भारत भर में गौवध पूर्ण रूप से बन्द हो, इसकी बात उठाई। उनके और दूसरे और लोगों के सुझाव से, गौ–संवर्धनी सभाएँ भी सैकड़ों स्थानों पर स्थापित होने लगीं। लेकिन अंग्रेजों के उकसाने से कुछ मुसलमान भी गाय मारने को, विशेषकर बकर ईद पर, अपना अधिकार मानकर इसकी जहाँ–तहाँ चर्चा करने लगे। क्योंकि गाय को गांवों से कत्लखाने तक ले जाने का काम भी अधिकांशत: मुसलमान गौवध करने वालों का होता था, इसलिए जिन–जिन रास्तों से गाय ले जायी जाती थी, उन राहों पर वहाँ के लोगों में और कत्लखानों में गाय हाँकने वालों में झगड़े होने लगे।

अंग्रेज तो इस तरह के झगड़े चाहते ही थे और धीरे–धीरे ये झगड़े हिन्दू–मुसलमान की लड़ाई में बदलते गये और ऐसा दिखाया जाने लगा कि गौवध का प्रश्न तो

हिन्दू–मुसलमान झगड़ों का प्रश्न है, अंग्रेजों के साथ झगड़े का नहीं।

लेकिन सभी जानते थे कि यह सारा रोष और आन्दोलन अंग्रेजों द्वारा किये गये गौवध के विरोध में ही है। यहाँ तक कि ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया ने ८ दिसम्बर, १८९३ को अपने वाईसराय लैन्सडाउन को लिखा कि "वायसराय समझते ही होंगे कि यह विरोध का आन्दोलन मुसलमानों के खिलाफ नहीं है, यह तो हम अंग्रेजों के खिलाफ है क्योंकि हम ही अधिक गाय मारते हैं।"

इन बढ़ते झगड़ों और दंगों के कारण आन्दोलन वैसे बन्द तो नहीं हुआ, पर शिथिल होता चला गया। १८८४–८५ ई. से इसका रोष हल्का पड़ता गया और इसकी रफ्तार भी धीमी पड़ गई।

१८३० के करीब अंग्रेजों को अकसर यह चिन्ता होती थी कि उनका राज्य भारत में टिक पायेगा कि नहीं। उसमें एक बड़ा मत यह था कि अंग्रेजों की भारतीय सेना साधारणत: तो उनके प्रति निष्ठावान थी लेकिन भारतीयों का कुछ कहा नहीं जा सकता। वे हवा के रुख के साथ बदलते ही हैं। इसलिए अगर उन्हें हवा का रुख अंग्रेजों के पक्ष का न दीखा, तो वे अंग्रेजों के विरोध में भी जा सकते हैं। और इसलिए अंग्रेजों को ज्यादा संख्या में भारत में बसाना चाहिये। उनका बसना ही अंग्रेजी राज्य को सुरक्षा दे सकेगा। इसके विपरीत गवर्नर जनरल लार्ड बेंटिंक, ये १८०२ से १८०७ तक मद्रास के गवर्नर भी रह चुके थे, का मत था कि शायद कलकत्ता इत्यादि में काफी बदलाव भी आ रहे हैं। अभी तक जो बड़े और धनाढ्य लोग पण्डितों, साधुओं, भिक्षुओं इत्यादि का सम्मान करते थे, और उन्हें खिलाने–पिलाने में अपना ही सम्मान मानते थे, धीरे–धीरे अब वे ही उसे त्याग कर यूरोप के लोगों को खिलाने–पिलाने में, उनको ऐयाशी में रखने में और उन पर हर तरह का खर्च करने में अपने को गौरवान्वित मानने लगे हैं। ऐसा देख–समझ कर गवर्नर जनरल बेटिंक को लगा कि धीरे–धीरे भारतीय उनके प्रति वफादार व उनसे अपने को अनुगृहीत मानने लगेंगे।

भारत के १८३० ई. से लेकर १९३० तक के बाद के इतिहास को देखते हुए लगता है कि बेटिंक ने कुछ सही समझा था और भारत के बहुत से समृद्ध व अंग्रेजी शिक्षा को पाये काफी लोगों का धीरे–धीरे पश्चिमीकरण हो रहा था। १८६० ई. के बाद ऐसा पश्चिमीकरण और बढ़ा और १८८४ में जो इण्डियन नेशनल काँग्रेस अंग्रेजों की मदद से बनी वह मुख्यत: वैसे भारतीयों को इकट्ठा करने के लिए ही बनी थी। उन्हीं में से कुछ लोग धीरे–धीरे अंग्रेजों के सरकारी व गैर–सरकारी अफसर बनते गये और उनकी मान्यताएँ



भी विदेशी बनने लगीं।

ऐसा अवश्य हुआ कि महात्मा गांधी के १९१५ में भारत में आने के बाद और विशेषत: जब १९२० में उन्होंने काँग्रेस की बागडोर सँभाली, तब से १९४२ तक ये पश्चिमीकृत भारतीय भी अपने विदेशीपन से कुछ दूर हटे। उनका जीवन तो शायद पश्चिमी ढंग का ही रहा लेकिन औरों के सामने उन्हें अपने को भारतीय ही दिखलाना पड़ा।

किन्तु यह कहा जा सकता है कि उनके विचार और मान्यताएँ अधिकाशत: २० वीं सदी के प्रारम्भ से ही विदेशी हो चुकी थीं। हिन्दी के प्रतिष्ठित लेखक मुंशी प्रेमचंद पर भी ऐसे पश्चिमीकरण का असर हो चुका था। १९१० के करीब लिखी हुई उनकी पुस्तक 'गोदान' में एक भारतीय किसान से कहलाया जा रहा है कि गाय तो विदेशी ही अच्छी होती है। इस तरह के बहुत सारे प्रमुख लोगों के मानसिक बदलाव से देश का अपने मानसिक स्तर पर बँटते चले जाना स्वाभाविक ही था।

सन् १९३८ में अखिल भारतीय काँग्रेस ने पण्डित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक नेशनल प्लानिंग कमेटी बनायी थी। इस बड़ी कमेटी की ३०–३५ छोटी उप–कमेटियाँ थीं जिसके २०० के करीब सदस्य रहे होंगे। १९४६ में जब इन उप–कमेटियों की रपटें आयीं, तब कृषि और पशु पालन की उप–कमेटी की रपट में कहा गया कि भारत भर में गौवध पूरी तरह से बन्द होना चाहिये। तभी कामर्स उप–कमेटी ने यह कहा कि गौवध चलता रहना चाहिये क्योंकि हमें पशुओं की खालों का निर्यात विदेशों में करना है।

अगले तीन–चार बरस के कई ऊँचे स्तरों पर विवाद के बाद १९५० में भारत सरकार ने प्रदेशों को यही राय दी कि गौवध के कत्लखाने बन्द नहीं होने चाहिये क्योंकि वध की गई हुई गायों का चमड़ा ही मूल्यवान होता है और वह निर्यात के काम का है।

इस तरह से १९४६–५० का समय भारत में गौवध रहे या यह पूरी तरह से बन्द किया जाये, इस विवाद का है। इस विवाद के कारण संविधान में गौवध पूर्णरूप से बन्द हो, ऐसा नहीं लिखा जा सका, और इसमें भी ज्यादातर प्रदेशों को भी समय–समय पर ऊपर से यह राय मिलती रही कि वे कत्लखाने बन्द नहीं करें। १९५४ में भारत सरकार के पशुपालन विभाग ने एक समिति बनायी जिसका काम रखा गया कि वह गौवध बन्द करने के उपाय सुझाने के लिए बनी है। लेकिन इस कमेटी का रोना यही रहा कि हमारे यहाँ तो १०० में ४० गाय–बैल को खिलाने के लिए ही चारा और पौष्टिक आहार है; बाकी ६० को तो हम नहीं खिला पायेंगे। इसलिए इस कमेटी का सुझाव रहा है कि १०० में ६० कमजोर

गाय–बैलों को तो मारना ही आवश्यक होगा। भारत सरकार के १९५० के प्रदेशों को सुझाव और इस १९५४ की कमेटी के सुझाव ने तो गौवध की आवश्यकता पर एक नयी चर्चा शुरू करवा दी। यहाँ तक कि इस चर्चा में भारत के बड़े न्यायालय भी फँस गये और ४०–५० वर्ष के बाद भी न्यायालय इस पर विचार, चर्चा व अपने निर्णय जब–तब देते ही रहते हैं।

इस सब का नतीजा यह है कि संख्या के हिसाब से जितने बैल, बछड़े/बछड़ियाँ, साँड़ और गाय भी, आज कत्लखानों में मारे जाते हैं, आज से ६०–७० वर्ष पहले भी तकरीबन उतने ही मारे जाते होंगे। लेकिन पहले तो ये गाय–बैल इत्यादि अंग्रेजों व दूसरे अमरीकनों के खाने के लिए मारे जाते थे। उनकी खाल तो तब भी निकाली जाती थी, परन्तु केवल खाल के लिए उन्हें मारा नहीं जाता था। आज जब कि यह कहा जाता है कि हमारे यहाँ से गौमाँस का निर्यात नहीं होता, मगर खालों का होता है। ऐसी स्थिति में इस माँस का क्या उपयोग होता होगा, भारत में कौन लोग इसे अधिक खाने लगे हैं, या यह छिपाकर निर्यात होता है, यह पूर्णरूप से जानने लायक विषय है।

जैसे–जैसे हमने यह कहा कि हम गाय नहीं मारते व गौमाँस का कोई निर्यात भी नहीं करते; वैसे ही जैसे १९५४ से हमने भैंसों के पालने पर जोर देना शुरू किया और वह भी खाली दूध के लिए ही नहीं, लेकिन भैसों के माँस के लिए भी। ४०–४५ वर्ष के बाद हम आज अस्सी लाख भैंसों का कत्ल हर बरस करते हैं। इसमें पचपन लाख भैंसों का माँस भारत में खप जाता है और पच्चीस लाख भैंसों का माँस निर्यात होता है।

आज भारत से सब तरह के माँस के निर्यात पर सरकारी व व्यापारिक स्तरों पर बहुत जोर है। योजना आयोग के आँकड़ों के हिसाब से सन् २००० में कोई दो करोड़ से अधिक पशुओं का माँस के लिये वध किया गया। इनमें से शायद एक तिहाई का माँस निर्यात किया गया। इन सब पशुओं के कटने व उनके माँस के निर्यात होने की जानकारी साधारणतया भारत की जनता को नहीं है। दो–तीन महीने पहले तक मैं स्वयं भी यह समझता था कि भारत में गौवध बन्द तो नहीं हुआ लेकिन गौमाँस आसानी से भारत में नहीं मिलता। इसी तरह से हमारे लोगों ने यह भी कभी सोचा न होगा कि हम बड़ी संख्या में हर तरह के जीवों को मार कर उनका निर्यात करते हैं। आदि काल से भारत में हर जीव की प्रतिष्ठा रही है। भारतीय सभ्यता का यह एक मुख्य लक्षण रहा है और ऐसा माना गया है कि जीवों की कम से कम हत्या होनी चाहिये, वह भी केवल स्वयं की भूख को मिटाने के लिए व राजाओं द्वारा शिकार के लिए। आज का समय जो हमें महात्मा गांधी





के अहिंसक संघर्ष से और उनके सत्कर्मों से मिला है, उसमें हम इतने पतित हो जायेंगे कि निरीह जीवों को मार–मार कर उनका विदेशों में निर्यात करेंगे, यह तो पचास वर्ष पहले सोचा भी नहीं जा सकता होगा।

पूर्ण गौवध बन्द करने के लिए तो बहुत प्रयत्न करने होंगे। इसके लिए कृषि, पशुपालन, ग्राम व खेती की पुनर्व्यवस्था करनी होगी लेकिन माँस का निर्यात तो आज ही सरकारी हुक्म से व भारतीय जन के जोरदार आक्रोश से दो–चार महीनों में ही बन्द किया जा सकता है। ऐसा करने से हो सकता है, हमें विदेशी मुद्रा कुछ कम मिलने लगे, हमें अपने कत्लखाने बन्द करने पड़ें और काफी सारे कत्ल करने वालों के लिए दूसरे रोजगार ढूँढ़ने पड़ें। लेकिन यह सब तो बहुत कठिन नहीं है। लेकिन हर दिन जीवहत्या करके हम उसे विदेशों में निर्यात करते रहें, यह तो भारतीय सभ्यता के लिए बहुत बड़े कलंक की बात है।

पचास–पचपन बरस पहले भारतीय संविधान के द्वारा गौवध को सम्पूर्ण रूप से बन्द करने का जो काम रुक गया था, उसे इसके बाद भी कई बार लोकसभा या प्रदेशों की विधानसभाओं या न्यायालयों के मार्फत करने के प्रयत्न हुए हैं। गौवध बन्दी को लेकर बहुत से आन्दोलन भी इन पचास बरसों में हुए हैं। एक बड़ा आन्दोलन नवम्बर, १९६६ में था जिसमें दिल्ली शहर में ही हजारों–लाखों साधु–सन्तों इत्यादि ने गौवध बन्द करने के लिए उपवास किया और धरना दिया। उस समय शायद सैकड़ों साधु–सन्त और दूसरे लोग मारे भी गये। उससे तब की सरकार घबरा सी गई। तब सरकार ने एक बड़ी समिति बनायी यह तय करने को कि गौवध बन्दी मान ही ली गई है लेकिन उसे कार्यान्वित कैसे किया जाये। इस समिति में पुरी के शंकराचार्य, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के गुरु गोलवालकर, कलकत्ते हाईकोर्ट के सेवानिवृत्त न्यायाधीश मुखर्जी, दो, उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री, चौधरी चरण सिंह व पंडित द्वारिका प्रसाद मिश्र जो दोनों गौवध बन्द होने के पक्ष में थे, बंगाल और केरल सरकार के प्रतिनिधि, जिन्हें पूर्ण गौवध होना स्वीकार नहीं था और कुछ सरकारी अफसर भी इसमें शामिल थे। लेकिन इस समिति की पहली बैठक में ही विवाद हो गया और यह समिति चल नहीं पाई। इसमें से अन्त में क्या निकला, इसको जानने की आवश्यकता है। लगता है आज किसी को भी इसकी सही खबर नहीं है।

अब तीन–चार महीने पहले भारत सरकार ने गाय के प्रश्न को लेकर एक नया राष्ट्रीय आयोग बनाया है। इस आयोग के बारे में जो वक्तव्य भारत सरकार ने बनाया उसमें गौवध बन्द करने की बात सीधी नहीं कही गई है। अब तक गाय के विषय में बने सब

कानूनों पर विचार किया जाये और जो कानून हैं भी, वो क्यों लागू नहीं हो पाते, इन पर विचारना और इसके समाधान ढूँढ़ना इस आयोग का कर्तव्य है। भारत की गायों की १८–२० अलग–अलग नस्लों में जो पिछले सौ–दो सौ बरस में बिगाड़ हुआ है, उस पर भी आयोग को विचार करना है और उनका हल निकालना है।

एक और बड़ा उद्देश्य इस आयोग का यह है कि गाय की आर्थिक उपयोगिता पूर्ण रूप से साबित की जाये। दूध, बछड़े, बछड़ियों के अलावा और बैलों का कृषि में जो उपयोग होता है, उसके अलावा गोबर और गौमूत्र से और क्या नये–नये खाद और दवाइयाँ इत्यादि बन सकती हैं, उन सबकी आर्थिक उपयोगिता को मापना और सिद्ध करना, यह भी इस आयोग का बड़ा काम है। यद्यपि आयोग के वक्तव्य में गौवध बन्दी की बात नहीं कही गई है, तथापि मुख्य प्रश्न तो पूर्ण गौवध बन्दी का ही है।

यह दो सौ बरस पहले शुरू हुआ व्यापक गौवध चार–छह लाख अंग्रेजों ने स्वयं रोज–रोज गौमाँस खाने के लिए आरम्भ किया था और उनके वापिस जाने पर भी देश के हर कोने से मांग होने पर भी हम इस गौवध को भिन्न–भिन्न कारणों से अभी तक बन्द नहीं कर पाये। किन्तु ऐसा नहीं लगता कि पूर्ण गौवध अब केवल आयोग की जाँच–पड़ताल व रपट से बन्द हो जायेगा। हाँ, आयोग का इस समय बनना ऐसा अवसर तो दे सकता है जब देश में इस विषय को लेकर चेतना जागे और देश के लोग विशेषत: किसान और गाँव और कस्बों में रहने वाले और लोग आगे से गाय को घरों में पालने की सोचें और खेती फिर से बैलों द्वारा होने लगे और सामान का ढोना भी अधिक से अधिक बैलगाड़ियों द्वारा चलने लगे।

देश के लोगों का कोई बड़ा दबाव अगर देश के राजतन्त्र पर पड़ सकेगा, तब तो यह आशा की जा सकती है कि आयोग भी अपनी पूरी सोच और शक्ति से अपने काम की जिम्मेदारी लेगा। देश की जनता को आज की स्थिति की जानकारी देना, जैसे कि कांचीपुरम् शंकरमठ के शंकराचार्य श्री जयेन्द्र सरस्वती ने प्रधानमंत्री को सुझाया भी है कि सब संचार–माध्यमों में देश की हर भाषा में आयोग के बारे में चर्चा चले और गाय से सम्बन्धित सरकार के मंत्रालयों के सब विभाग इसमें पूरा सहयोग दें। श्री जयेन्द्र सरस्वती ने यह भी सुझाया है कि इस आयोग को सब प्रदेशों के मुख्य मंत्रियों और सरकार का पूरा सहयोग मिलना चाहिये।

लेकिन यह सब शुरुआत तभी होगी जब जगह–जगह गाँवों, जिलों, प्रदेशों में वहाँ के प्रभावशाली लोग इस विषय पर खड़े होने लगेंगे संगठन बनाने लगेंगे और गाय को कत्ल





के लिए इधर–उधर ले जाना पूर्ण रूप से रुकेगा। गाँवों–गाँवों में जो वन पहले हुआ करते थे, और जो अंग्रेजी राज्य में उजड़ गये, उन्हें पुनर्स्थापित करना होगा। जनमानस में अगर ऐसा निश्चय नहीं बनता और पूर्ण रूप से गाय का वध बन्द नहीं होता, तब तक इस देश की कृषि में आज से २०० बरस पहले जैसी समृद्धि नहीं आ सकेगी।

भारत की समृद्धि तो भारतीय जलवायु, जमीन और समझ और हुनर से बंधी है। विदेशी अक्ल हमारे बहुत काम की नहीं है क्योंकि हमारे ध्येय भी विदेशी ध्येयों से बहुत भिन्न हैं और हमारे जो ध्येय हैं उनकी पहचान का बड़ा प्रतीक तो भारतीय गाय ही है। यूरोप की गाय जो पिछले ५०–१०० बरसों के यूरोप के प्रयत्न से दूध और माँस तो बहुत देने लगी है, लेकिन उनमें अधिक गायें हर समय लेटी ही रहती हैं और उनमें अपने पाँवों पर खड़े होने की शक्ति नहीं रह गई है और स्वयं एक मशीन जैसी बन गई हैं जिसे एक दूसरी मशीन से दुहते रहते हैं। और जब ये गाए दूध के लिए ठीक न रहें, तो उन्हें काटकर उनका माँस, हड्डियाँ इत्यादि अलग–अलग कामों में लाते हैं। गाय को ऐसे पालना और रखना ही आधुनिक यूरोप के फैक्ट्री फार्मिंग का एक मुख्य अंग है। भारत इससे बचा ही रहे चाहे इसकी गाय दुबली, पतली, सूखी दीखें; उसमें भी भारत, यूरोप और अमरीका इत्यादि से तो भाग्यवान ही माना जायेगा।

आयोग के बनते ही श्रीकृष्ण जन्माष्टमी को मैंने प्रधानमंत्री जी को एक पत्र लिखा था जिसमें उन्हें बतलाया था कि आज के इतने बड़े गाय के कत्ल की शुरुआत इस्लाम के विजेताओं के समय की नहीं है बल्कि इसे तो अंग्रेजी राज ने कोई दो सौ बरस पहले शुरू किया। इसी पत्र के साथ बहुत सारे प्रश्न मैंने सुझाये थे जिनकी जानकारी आवश्यक लगती थी। उन्हीं जानकारियों में एक यह भी थी कि भारत में पिछले २०० बरस में हर जिले व ताल्लुक में कितने कत्लखाने कब–कब रहे हैं और उनमें कितने कुल पशु, विशेषत: गाय और उसकी सन्तति, हर बरस कत्ल की गयीं हैं। मैंने सोचा था कि यह जानकारी तो शायद जिले के कलक्टरों इत्यादि से व दिल्ली व प्रदेशों के मंत्रालयों से जल्दी ही मिल सकेगी। लेकिन मैं ऐसा सुनता हूं कि ऐसी जानकारी जिलों में, प्रदेशों, व दिल्ली के मंत्रालयों में भी कभी सिलसिलेवार इकट्ठी नहीं की गई। गौवध के प्रश्न को पूरी तरह से समझना हो तो आवश्यक है कि इसका पता चले कि अन्दाजन कब–कब कितना गौवध पिछले दो सौ–चार सौ सालों में हुआ है और जो मांस वहां कटता है, जो हड्डियाँ निकलती हैं और जो खालें पशुओं पर से उतारी जाती हैं, उनका क्या–क्या होता है? इन गाय काटने इत्यादि के कामों में कितने लोग लगे हैं, वे किन–किन जातियों के हैं, वे स्वयं

हर रोज गौमाँस खाते हैं क्या, और अगर उन्हें दूसरा कोई काम सौंपा जाये तो गाय काटने के बदले में वे दूसरे कामों को तरजीह देंगे क्या? दूसरा प्रश्न यह भी है कि अंग्रेजों के जाने के बाद यह गौमाँस जो कटता है, उसकी खपत कहाँ—कहाँ होती है; जिले, ताल्लुकों, कस्बों में ही या बड़े—बड़े शहरों में इस गौवध के होने के बारे में हर जिले के लोगों की क्या—क्या राय हैं, भावनाएँ हैं, यह भी जानना जरूरी लगता है।

गौवध से लोगों को क्या लगता है कि इससे उनके स्थानों को कहीं अधिक लाभ होता है, या उन्हें लगता है कि उससे तो उन्हें पूरी हानि ही है। वे ना केवल अच्छे पशुओं से वंचित रह जाते हैं, बल्कि उनका दूध, गौमूत्र और गोबर भी इस कटने से उनके पास जितना पहले था उससे भी कम होता चला जाता है। इसी तरह से गाय, बैलों, बछड़ों इत्यादि के काटने से गांव की खेती पर क्या असर पड़ता है, कुल मिलाकर वह पहले से अच्छी ही हुई है या कमजोर होती जा रही है? लेकिन खेती से भी अधिक उनके सामाजिक जीवन पर जिसमें मनुष्य, बच्चे, गाय, बछड़े, बछड़ियाँ, बैल आपस में हिलमिल करके रहते थे और एक दूसरे को देखकर उन्हें साधारणतया आनन्द ही मिलता था और उन्हें मनोवैज्ञानिक सन्तुष्टि होती थी, अगर यह माना जाये तो क्या ऐसा उन्हें लगता है कि आज का उनका जीवन ज्यादा रूखा—सूखा और नीरस हो गया है? यही बात शायद गाय—बैल बछड़ों के कम होने के कारण दूसरे जीवों की चहल—पहल में भी काफी सूनापन बताने लगी है।

भारतीय दृष्टि में हर जीव अलग—अलग नहीं माना जाता। समस्त कुल जीवों को मिलाकर वहाँ का समूह, बस्ती, गाँव, कस्बा, वन इत्यादि माने जाते हैं। उनमें हरेक का रहना पूर्णता की निशानी है। हम सिर्फ कुछ मनुष्यों व कुत्ते—बिल्लियों के साथ ही नहीं रहते। हम सब बाकी जीवों के सहचर भी हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि अगर हम भारत के अधिक जीवों को मार करके उनका अलग—अलग देशों में निर्यात करते हैं, तब भारत की गाय भी इस उजड़े रेगिस्तान बनते हुए देश में जीवित रहना नहीं चाहेगी। उनके मन में भी उनका जीवन इन सब बाकी जीवों के साथ ही बंधा है। यह तो हम कुछ भारतीय आधुनिक मनुष्य ही सोच सकते हैं कि गाय और उसकी सन्तति का महत्त्व उसके तरह—तरह के उत्पादन में ही है। गाय व दूसरे जीव हमें प्रकृति से जोड़ते भी हैं, यह हम भूलने लगे हैं। और भी बहुत से प्रश्न मैंने प्रधानमंत्री के सामने तीन चार महीने पहले रखे थे। वे शायद आयोग के सदस्यों ने भी देखे हैं। और भी अनेक प्रश्न शायद उनमें जुड़ने चाहिए। तब हम अपनी समस्या को और उसके हल को अधिक सहजता से समझ सकेंगे।

हमें अगर दो सौ बरस की इस गिरी हुई स्थिति को बदलना है, खेती की अच्छी





पुनर्व्यवस्था करनी है और गौवध पूर्ण रूप से बन्द करना है तो हमें पचासों अलग प्रश्नों पर भी विचार करना होगा। हमें देश की जमीन के उपजाऊपन के बारे में भी सोचना होगा। हमारे यहाँ कुल कितना पानी है और कैसे हमें इसे किफायत से इस्तेमाल करना है — ये और भी बड़े प्रश्न हैं। किन्तु बड़े प्रश्नों को हम तब ही हल कर सकेंगे जब हम पूर्ण भारतीय होकर जीवों को मारने और उनके माँस को विदेशों में निर्यात करने का काम किसी तरह से ना करें। उसी तरह से हम विदेशों से किसी तरह का माँस, चमड़ा, बिलकुल भी नहीं मंगायें। इन कामों से हम अपने को हीन बनाते जा रहे हैं जैसा हीन यूरोप आज से २००—३०० बरस पहले तक था। यूरोप तो अपनी हीनता से थोड़ा निकला, पर हम उसकी उतरी हुई हीनता ओढ़े जा रहे हैं। इससे हमें शीघ्र ही अपने को बचाना पड़ेगा और हमारी सभ्यता की जो भी मर्यादाएँ, मान्यताएँ, आदर्श, समझ व कारीगरी थी, उन पर लौटना होगा। यह सब करने से गौवध भी बन्द होता चला जायेगा और गाय भी हम पर प्रसन्न हो जायेगी।

◆◆◆

# गौरक्षा व गौवंश वध को बंद करने के संदर्भ में कुछ तथ्य एवं विचार

गाय को हमारे यहाँ सौभाग्यदायिनी तथा सौन्दर्य और करुणा का प्रतीक माना जाता है। भारतीय सभ्यता की एक मुख्य मान्यता यह रही है कि जितने भी जीव हैं, सभी में ईश्वरीय तत्व है तथा कुछ जीवों को दूसरे अन्य जीवों से श्रेष्ठ माना गया है। गाय का स्थान इन सब जीवों में सबसे ऊँचा माना गया है, मनुष्य और ब्राह्मणों से भी ऊँचा। भारत की स्त्रियाँ तो आज भी गाय को उसी रूप में देखती हैं। गाय के बारे में एक मान्यता यह भी रही है कि गाय मोक्ष का आधार है। प्राचीन ग्रंथों में तो गौ महिमा पर प्रचुर सामग्री उपलब्ध है ही।

प्राचीन काल से ही शास्त्रों और पुराणों में ऐसे बहुत से जिक्र आते हैं जब अलग–अलग समय में कई राजाओं व अन्य समृद्ध लोगों ने ऋषियों व ब्राह्मणों को हजारों गायें दान में दीं। इसका अर्थ शायद यह रहा होगा कि जैसे प्राचीन काल में ही नहीं बल्कि पिछले दो सौ वर्ष पूर्व तक विद्वानों, मंदिरों और अन्य बड़ी सामाजिक व्यवस्थाओं को गाँव के कर का एक हिस्सा या कुछ अलग–अलग प्रकार की खेती योग्य भूमि दान के रूप में दे दी जाती थी, उसी तरह प्राचीन काल में हजार दो हजार या दस हजार गायों का क्षेत्र भी इस प्रकार के विद्वानों, ऋषियों या मंदिरों को दान में दे दिया जाता था। गायों को पालने वाले ही उन्हें पालते रहते थे लेकिन इनका संरक्षण इन विद्वानों और ऋषियों या मंदिरों द्वारा होता था।

भारतीय सभ्यता में घर में गाय का होना शुभ और शोभा दोनों ही माना जाता रहा

*(यह लेख अप्रैल २००२ में लिखा गया था)*





है। ग्रामीण इलाकों में तो यह मान्यता आज भी बरकरार है। मुख्यत: गाय और गौवंश कुटुम्ब व परिवार में ही रखी जाती रही हैं। बूढ़ी और लाचार गायों के लिये हजारों वर्षों से पिंजरापोल रहे हैं जिनमें उनकी बराबर देखभाल होती ही है। इन पिंजरापोलों के साथ–साथ चरागाहों की जमीनें भी इनके लिये विशेष रूप से नियत की जाती थीं। अगर छोटे कस्बों और शहरों में गायें रखी गईं तो इनके गर्भाधान के समय (छह आठ महीनों के समय के लिये) उन्हें देहात में किसानों के पास रखने के लिये भेज दिया जाता था।

गाय का एक बड़ा उपयोग उसका गोबर और गौमूत्र भी है। दोनों ही पवित्र वस्तु के रूप में माने जाते हैं। और न केवल घरों को लीपने, दवाई बनाने इत्यादि के काम में, बल्कि इसका उपयोग खेतों में खाद के रूप में भी होता रहा है। गोबर से बनी खाद को मिट्टी का प्राण माना जाता है।

ऐसा माना जाता है कि गौवध भारत की भूमि पर कभी नहीं होता था और साथ ही भारतीय मान्यताओं में गौवध सबसे बड़ा पाप भी माना गया है। वैसे पिछले १५०–२०० वर्ष से यूरोपीय विद्वानों द्वारा तथा उनको मानने वाले कुछ भारतीय विद्वानों द्वारा भी, यह अवश्य कहा जाता रहा है कि भारत के कुछ प्राचीन ऋषि गौमांस खाते थे। लेकिन साधारण भारतीय को यह बात स्वीकार्य नहीं है।

## दो

भारतवर्ष कृषि प्रधान देश रहा है और उसकी खेती तथा कृषि परम्परा बहुत उन्नत रही है। हमारे लोगों ने इतना समृद्ध कृषि तन्त्र विकसित किया है तो वह गाय और गौवंश के आधार पर ही विकसित किया है। आज से १५०–२०० वर्ष पूर्व तक भारत में मालाबार, तमिलनाडु और अन्य इलाकों में कृषि उपज आधुनिक समय में जापान की कृषि उपज की तुलना में अधिक ही थी। इतना समृद्ध कृषि तन्त्र विकसित हुआ तो वह गाय और गौवंश के आधार पर ही। गाय और गौवंश से प्राप्त होने वाला गोबर, गौमूत्र, उससे बनने वाली खाद और दवाइयाँ, खेती में जुताई और बुवाई में इनका प्रयोग परिवहन, रहट इत्यादि चलाने तथा अन्य कार्य भी गौवंश के आधार पर ही होते रहे हैं। चूँकि भारत के अधिकांश हिस्सों की मिट्टी बहुत मुलायम और उपजाऊ रही है, इसीलिये यहाँ बैलों द्वारा खेती का तन्त्र विकसित हुआ।

अंग्रेजों के भारत में आधिपत्य स्थापित करने के समय से लेकर १८५०–६० तक

अंग्रेजी सेना का अधिकांश आवागमन गाँव वालों से जबरदस्ती छीने हुए बैलों के ऊपर ही निर्भर था। सेना की रसद—आपूर्ति और अन्य कार्य भी बैलों पर ही आश्रित थे। उसके बाद जब रेलें चलना शुरू हुई, तो बैलों पर यह निर्भरता कुछ कम जरूर हुई लेकिन ईस्वी १९३०—४० तक बनी तो रही ही।

## तीन

भारत में १००० ईस्वी से बड़ी संख्या में बाहरी आक्रमणकारियों का तुर्की, ईरान, अरब और अफगानिस्तान से आना शुरू हो जाता है। इसलिये स्पष्ट तौर पर कहा जा सकता है कि भारत में इन इस्लामी विजेताओं के कुछ बाद से ही गाय का वध शुरू हुआ होगा। यह इस्लामी आक्रमणकारी मुख्यत: अरब की संस्कृति से संबंधित थे। वहाँ की इस्लामी सभ्यता के अनुसार कुछ विशेष अवसरों पर भेड़, बकरी और ऊँट की बलि का प्रचलन इस्लाम में रहा है और नियम यह था कि यदि सात से अधिक लोग एकत्र हों तो ऊँट की बलि चढ़ाई जा सकती है अन्यथा भेड़ या बकरी की ही बलि चढ़ती थी गाय की बलि नहीं, क्योंकि गाय वहाँ के देशों में ज्यादा होती ही नहीं थी। इसलिये वहाँ गाय मारने की मान्यता भी नहीं रही। भारत में आने पर इन इस्लामी विजेताओं ने धीरे—धीरे इस्लामी उत्सवों पर विशेष कर बकरीद के दिन ऊँट की जगह गाय की बलि देने की शुरुआत की, और कभी कभी उत्सवों पर भी गाय खाना शुरू कर दिया। लेकिन ऐसा लगता है कि भारत में बने मुसलमानों में अधिकांश गौमांस नहीं खाते थे। आज भी ऐसा ही दिखता है।

जहाँ—जहाँ इस्लामी राज्य भारत में स्थापित हुआ, वहाँ—वहाँ कुछ विशेष अवसरों के अतिरिक्त भारतीय जनमानस को नीचा दिखाने की भावना से भी गौवध का कार्य समय—समय पर किया जाता था। लेकिन चूँकि मुसलमान शासक यहाँ अपना राजपाट जमाने लगे थे इसलिये भारतीयों में असंतोष की भावना न बढ़े, इस कारण उन शासकों ने गौवध कम करवाने के प्रयास भी किये। बाबर, हुमायूँ, जहाँगीर और औरंगजेब ने समय—समय पर गौवध पर पाबंदी लगाई थी। अन्य इस्लामी शासकों ने भी ऐसा किया होगा। यह पाबंदी किन—किन रूपों में लगी और इसके परिणाम क्या निकले होंगे, इन सब सवालों का उत्तर तो शोध से ही मिल सकेगा। यह माना जा सकता है कि औरंगजेब की मृत्यु के बाद गौवध करीब—करीब खत्म—सा हो गया था। अगर यूरोप के लोगों का कब्जा भारत पर शुरू न हुआ होता तो अठारहवीं सदी के अन्त तक गौवध पूरी तरह समाप्त हो



गया होता।

लाला श्री हरदेव सहाय की जीवनी में (१९९५ में प्रकाशित) ऐसा कहा गया है कि कुल ५०० वर्ष के मुस्लिम शासन के दौरान किसी भी एक वर्ष में २५—३० हजार से अधिक गायों का वध नहीं हुआ होगा। इसी तरह की बात श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी आदि भी कहते दिखते हैं।

१९१७ में महात्मा गांधी का कहना था कि उस समय अंग्रेजी शासन द्वारा प्रतिदिन ३०,००० गौवंश मारा जाता था। (गांधी वाङ्मय खण्ड १४, पृष्ठ ७८, मुजफ्फरपुर में भाषण, ११ नवम्बर, १९१७)।

## चार

१७५० में आरम्भ करके १८१८ तक अंग्रेजों ने लगभग पूरे भारत में अपना आधिपत्य जमा लिया था। उसके बाद जैसे—जैसे भारत में अंग्रेजी राज्य और प्रशासन की नींव पुख्ता होती गई और जैसे—जैसे भारतीय जन जीवन पर उनकी पकड़ मजबूत होती गई, वैसे—वैसे भारत में गौवध भी बढ़ने लगा। यूरोप के लोग पिछले दो हजार साल से गौमांस का भक्षण करते रहे हैं। वह ऐसा क्यों करते हैं, इसका कोई बहुत स्पष्ट कारण ज्ञात नहीं है। शायद वहाँ की ठंडी जलवायु और उनके अपने बहिर्मुखी स्वभाव के कारण ऐसा होता होगा। इस दिशा में वास्तव में शोध की जरूरत है ही। मध्य १९वीं शताब्दी के एक रूसी उपन्यास में ऐसा भी जिक्र किया गया है कि गौमांस खाने से शरीर में बहुत बल आता है। शायद ऐसी ही कोई मान्यता यूरोपीय समाज में भी रही हो। रूस में १८६० के करीब के उपन्यास 'व्हाट इज टू बी डन' में लिखा है कि गौमांस खाने से शरीर शक्तिशाली बनता है (*What is to be done* by N. G. Chernyshvsky : English Edition, Vintage, 1961)।

अंग्रेजों ने तो यहाँ आते ही (लगभग १७५० में) गोमांस का भक्षण शुरू कर दिया था। शुरू के कुछ वर्षों में तो इंग्लैण्ड से सूखा मांस भारत में आता था। उसके बाद के वर्षों में जहाँ—जहाँ उनका राज्य कायम होता गया, वहाँ—वहाँ उन्होंने अपनी अंग्रेजी सेना के लिये गाय काटना शुरू किया। यह गौवध गैर—फौजी अंग्रेजों व यूरोपवासियों के लिये भी किया जाने लगा। १८०० के करीब भारत में बीस हजार के करीब अंग्रेजी सेना रही होगी और एक से दो लाख के बीच अंग्रेज और यूरोपीय निवासी रहे होंगे। इन सबके लिये प्रतिदिन गौमांस की आवश्यकता पड़ती थी। इसलिये गाय काटने के लिये बड़े—बड़े कसाई

खाने भी सेना विभाग के द्वारा खोले गये। जो लोग मांस के काम में पहले से ही लगे थे, उन्हें ही लालच देकर गाय काटने के काम में लगाया गया। जैसे—जैसे अंग्रेजी और यूरोपीय लोगों की संख्या बढ़ी, वैसे—वैसे गाय काटने वाले कसाइयों की संख्या भी बढ़ने लगी। अंग्रेजों की फौज १८५६ तक तीन गुनी बढ़ गई थी। अत: यह माना जाना चाहिये कि गाय काटने वालों की संख्या भी उसी के अनुसार या और अधिक बढ़ गई होगी। १८५८ के बाद तो अंग्रेजी सैनिक एक लाख की संख्या तक पहुँचे और १९१० तक इतनी ही संख्या रही। यूरोप के दूसरे लोग भी अधिक बढ़े। तब गाय काटने वालों की संख्या १७६० के मुकाबले में २०—३० गुना बढ़ी होगी। शुरू से ही अंग्रेजों ने मुसलमानों पर जोर देना आरंभ किया कि जिस प्रकार वे पहले अपने त्योहारों पर गाय काटते थे, उसे कायम रखें और हो सके तो बढ़ायें। इस तरह से यह माना जा सकता है कि १७५० के आसपास कसाइयों की संख्या नाम मात्र की ही रही होगी।

## पांच

अंग्रेजी शासन के दौरान इतने बड़े पैमाने पर गौवध होने से भारतीय जनमानस में काफी रोष पैदा हो गया था। इसी रोष के परिणाम स्वरूप १८७० के बाद गौवध के खिलाफ अनेक व्यापक आंदोलन पैदा हुए। इन आन्दोलनों की शुरुआत नामधारी सिखों ने की। उन्हें कूका भी कहा जाता था। उसके बाद स्वामी दयानन्द सरस्वती और दूसरे प्रभावशाली लोगों ने देश भर में गौवध बंदी की आवाज उठाई। सन् १८८०—१८९३ के बीच गाय के प्रश्न पर पुन: एक बहुत बड़ा आन्दोलन पूरे देश में खड़ा हुआ जिसमें करोड़ों भारतीय शामिल हुए। इस आन्दोलन के परिणाम स्वरूप सैकड़ों गौशालायें भी बनीं। इनमें मुख्यत: कसाई लोगों से गाय वापस लेकर आन्दोलनकारी उन्हें इन गौशालाओं में रखते थे। बाद में यह गौशालायें दूध का भी छोटा—मोटा व्यापार करने लगीं। लेकिन २००—४०० गायों को एक साथ रखना साधारणत: भारतीय पद्धति में नहीं है। गाय को तो किसानों के कुटुम्ब व परिवारों में ही रखा व पाला जाता है।

लगता है १८४० के करीब से ही अंग्रेजों द्वारा भारतीयों के बीच यह राय बनाई जाने लगी कि भारत का सब कुछ घटिया किस्म का रहता है — मनुष्य भी, दूसरे जीव भी, और भारत के हुनर, तथा भारतीय प्रकृति भी घटिया है। समय बीतते—बीतते ऐसी मान्यतायें भारतीय लेखकों के मन में भी घर कर गईं। १९१० के लगभग प्रकाशित मुंशी



प्रेमचन्द के 'गोदान' नामक उपन्यास में भी एक किसान से यह कहलवाया गया कि गाय तो खरीदें लेकिन विदेशी नस्ल की। उसके बाद १९२८ में अंग्रेजों ने कृषि पर जो आयोग गठित किया उसकी रिपोर्ट में भी भारतीय पशुओं के घटियापन की बात और स्पष्ट कर दी गई। तभी से भारत में विदेशी नस्ल की गाय, सांड़ इत्यादि व्यवस्थित रूप से आने शुरू हो गये।

## छह

१९४० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने पण्डित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय योजना समिति का गठन किया। इस समिति की कोई ३०—३५ उपसमितियाँ बनीं। १९४६ के करीब इन उपसमितियों की रिपोर्टें भी प्रकाशित हुईं। इन उपसमितियों में से कृषि और गायों पर बनी एक उपसमिति ने कहा कि आगे से गाय और गौवंश का वध पूरी तरह से बंद होना चाहिये। लेकिन उसी समय वाणिज्य उपसमिति ने कहा कि हमें तो विदेशों में गौवंश की खालें बेचनी और उससे विदेशी मुद्रा कमानी है, इसलिये गौवंश का वध समाप्त नहीं होना चाहिये। १९५० में भारत सरकार का प्रदेशों को यह आदेश भी जाता है कि मरी हुई गाय की खाल का कोई मूल्य नहीं है जबकि मारी गई गाय की खाल मूल्यवान है। इसलिये प्रदेशों को गाय मारने के कत्लखाने समाप्त नहीं करने चाहिये।

इन्हीं दिनों भारत सरकार ने गौवध पर विचार करने के लिये सरदार दातार सिंह की अध्यक्षता में एक समिति बनाई। इस समिति में १५—२० सदस्य थे जिनमें कुछ सरकारी सदस्य थे और कुछ गैर—सरकारी। सरदार दातार सिंह भारत सरकार के गौपालन पर मुख्य विशेषज्ञ थे। इस समिति ने १९४८ में अपनी रिपोर्ट में लिखा कि गौवध दो वर्षों के अन्दर पूर्ण रूप से बंद हो जाना चाहिये। पहले चरण में यह १५ वर्ष से कम आयु के गाय बैलों पर लागू होना चाहिये और दूसरे चरण में पूर्णत: बंद हो जाना चाहिये। इस समिति की रिपोर्ट आने के बावजूद संविधान सभा ने इस राय पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया, लेकिन राज्यों में लगता है इस पर अमल करने की कुछ कोशिश की गई।

उत्तर प्रदेश में सन् १९५०—५१ के करीब राज्य सरकार ने एक प्रभावशाली समिति बनाई। जिसमें मुसलमानों की ओर से नवाब छतारी और ईसाइयों की ओर से जस्टिस महाराज सिंह ने प्रतिनिधित्व किया। इस समिति की राय भी सरदार दातार सिंह की समिति की राय से मिलती जुलती ही रही। लेकिन १९५५ में जब उत्तर प्रदेश सरकार ने

गौवध से सम्बन्धित कानून बनाया तो उसमें यह भी लिख दिया गया कि टिनों में बंद गौमांस की बिक्री की जा सकती है और हवाई अड्डों व रेलवे स्टेशनों पर भी गौमांस बेचा और खाया जा सकता है।

लगता है तब तक काफी संख्या में अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों की, जिनका मानसिक पश्चिमीकरण हो चुका था, राय भी कुछ उसी तरह की बन गई थी जैसी कि मुंशी प्रेमचन्द की या कांग्रेस की वाणिज्य उपसमिति के सदस्यों की थी। पण्डित जवाहरलाल नेहरू और उनके जैसे अनेक बड़े लोगों की तो शायद काफी पहले से ही ऐसी राय रही होगी।

सन् १९४७ से १९४९ के बीच भारत का संविधान बना। संविधान सभा में गौवध के प्रश्न को लेकर काफी चर्चा हुई। अधिकांश सदस्य चाहते थे कि संविधान द्वारा गौवध–बंदी सम्पूर्ण रूप से हो जाये। तीन–चार मुख्य मुसलमान सदस्यों ने भी ऐसी ही राय व्यक्त की, लेकिन चूँकि ऐसे लोगों की जिनका पश्चिमीकरण हो चुका था, संविधान सभा की कार्यवाही चलाने में मुख्य भूमिका थी, इसलिये संविधान में यह नहीं लिखा जा सका। लेकिन इतना कह दिया गया कि भारतीय गणतन्त्र अलग–अलग प्रादेशिक कानूनों द्वारा चाहे तो गौरक्षा करने का प्रयत्न करे। इसी समय कृषि और गौवंश को वैज्ञानिक और आधुनिक बनाने से सम्बन्धित बात को भी संविधान की धारा में लिखा गया। भारत की पारम्परिक खेती और पशुपालन व्यवस्था को समाप्त करने का ठप्पा इस संवैधानिक धारा से लगना शुरू हुआ।

तभी से हमने अपनी पारम्परिक कृषि, गौपालन को छोड़कर आधुनिक पाश्चात्य प्रणालियों को अपनाने पर देश की मुहर लगा दी। और ऊपर बतलाया गया वाक्य कि – मारी गई गाय की खाल अधिक मूल्यवान होती है, इसलिये गाय मारने के कत्लखाने बंद नहीं होने चाहिये– ऐसा १९५० में लिखा जा सका। तभी से उत्तरोत्तर बड़े पैमाने पर रासायनिक खाद और संकरित बीजों का उपयोग तथा गाय को अप्राकृतिक तरीकों से गर्भाधान देना आरंभ हो गया।

आज की हमारी जो स्थिति है, वह इसी १९४६–५० की पश्चिम से प्रभावित मान्यताओं के आधार पर ही बनी है। १९५२ में गौवध बंदी के पक्षधर लोकसभा सदस्यों ने गौवध बंदी के लिये लोकसभा में एक प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव पर तकरीबन दो वर्ष बहस होती रही और अधिकांश सदस्य गौवध–बंदी के पक्ष में थे। लेकिन अंत में प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि अगर प्रस्ताव पारित हो गया तो उन्हें सोचना पड़ेगा कि वे प्रधानमंत्री पद से त्यागपत्र दे दें। सदस्य लोग इससे चौंके और प्रस्ताव वापिस ले लिया।





**१९५४ में ही भारत सरकार** ने गाय के प्रश्न पर अपने विशेष अफसरों की एक समिति बनाई। **इस समिति का काम था** कि वह ऐसे रास्ते सुझाये जिससे गौवध पूर्ण रूप से बंद हो जाये। **लेकिन अपनी रपट के** मध्य में आते–आते समिति कहने लगती है कि हम तो ४० **प्रतिशत से अधिक गाय बैल** नहीं पाल सकते, क्योंकि हमारे पास तो उतना चारा आदि नहीं है। **समिति दबी जुबान से यह** भी कहती है कि अन्त में तो हमें ६० प्रतिशत पशुओं को समाप्त करना ही पड़ेगा।

गौवंश को मारने और कम करने की चर्चा तकरीबन इसी समय से सम्मानजनक जैसी हो गई। इतनी सम्मानजनक हुई कि १९५८ में भारतीय उच्चतम न्यायालय ने जिस प्रकार कसाइयों को गौवंश को मारने के उनके अधिकारों को मान्यता दी, वह भी इसी सोच से निकली होगी। यह विचित्र बात है कि उच्चतम न्यायालय ने अपने लिखे विद्वत्तापूर्ण फैसले में और सब बातें तो कहीं तथा साथ ही प्राचीन ऋषि गौमांस खाते थे या नहीं इसकी भी चर्चा की, लेकिन इस बात का उन्होंने कहीं भी जिक्र नहीं किया कि भारत में गौवध अंग्रेजों द्वारा बढ़ाया गया। हो सकता है कि उच्चतम न्यायलय को १८०० के करीब से जिस पैमाने पर भारत में गौवध बढ़ा और उसके परिणाम स्वरूप जो बड़े–बड़े आन्दोलन हुए, उनके बारे में जानकारी न हो। उनके सामने अगर बिट्रेन की महारानी विक्टोरिया का दिसम्बर १८९३ का पत्र ही आ जाता तो उन्हें सच्चाई का कुछ अंदाजा हो जाता। उस समय महारानी विक्टोरिया ने अपने भारत के वायसराय लैंसडाउन को लिखा था कि यह जो गौवध के खिलाफ आन्दोलन हो रहा है, वह मुसलमानों के खिलाफ नहीं है। वह तो हमारे खिलाफ है, क्योंकि अधिकांश गायें तो हम ही मारते हैं।

## सात

१९५० के समय से जिस प्रकार भारत का और भारतीय कृषि व पशुपालन के पश्चिमीकरण का दौर चला, वह अब सन् २००२ में बढ़ता ही जा रहा है और हो सकता है बीस वर्ष बाद २०२२ में भारत में गाय का दिखना ही संभव न रहे। गौवंश के ऊपर तो इस पश्चिमीकरण का आक्रमण बहुत ही भयंकर है। इसकी चपेट में आने वाले न केवल वे गाय पालने वाले हैं जिन्होंने मान लिया लगता है कि विदेशी गाय ही ज्यादा दूध देती है और वही रखी जानी चाहिये, बल्कि भारत की सरकारें भी हैं जिन्होंने सन् १९५० के करीब से यह तय–सा ही कर लिया है कि भारतीय गौवंश को जितना शीघ्र विदेशी नस्ल

की गायों में परिवर्तित किया जा सके, उतनी ही उनकी नीतियाँ सफल होंगी। इतना सब कुछ होने के बावजूद भारत की अधिकांश गायें विदेशी नस्ल की न हो सकीं। अभी तक भारत में विदेशी नस्ल की गाय तो ३–४ प्रतिशत से अधिक नहीं है। लेकिन भारत की अधिकांश देशी गायों पर ध्यान देने और उनकी देखभाल करने की प्रवृति तेजी से कम होती जा रही है। आज शायद एक चौथाई गायें ही अपनी मूल नस्ल से संबंधित हैं बाकी तो अपनी मूल नस्ल से अलग हो गई हैं।

भारतीय नस्ल के सांडों का तो और भी भयंकर हाल हुआ है। अब साधारणत: भारतीय नस्लों के सांड़ नहीं मिलते। भारत सरकार भी अब इस बात को स्वीकार करने लगी है। भारत के अधिकांश गाय रखने वालों ने पिछले १५–२० वर्षों में यह समझ लिया है कि विदेशी नस्ल की गाय और बैल उनके काम के नहीं हैं और वे भारतीय नस्लों को भी खराब ही करते हैं। लेकिन आज भारतीय नस्ल के सांड़ न मिलने के कारण उन्हें गायों को पहले की तरह से रखने का कोई रास्ता नहीं दीखता। अत: एक तरफ तो कुछ लोगों ने भैंस रखना शुरू कर दिया है और दूसरी तरफ खेती के लिए ट्रैक्टर का सहारा लेना शुरू कर दिया है। ये भैंसें भी मुख्यत: उनके मांस के निर्यात के लिये ही पिछले ३०–४० वर्ष की सरकारी योजनाओं द्वारा प्रजनित होने लगी हैं।

कृत्रिम गर्भाधान ने स्थिति को और अधिक बिगाड़ दिया है। विदेशी गायों के संबंध में तो सम्भव है कि कृत्रिम गर्भाधान की कुछ आवश्यकता हो, लेकिन भारतीय नस्ल की गायों के संबंध में इसके इस्तेमाल पर तो नए सिरे से विचार और बहस होने की आवश्यकता है।

इन ५० वर्षों में शहरों की जनसंख्या अन्धाधुन्ध बढ़ जाने से ऐसा माना जाने लगा है कि गायें तो शहरों की दूध–आपूर्ति के लिये ही रखी जानी चाहिये। इसलिये वे शहरों के करीब के क्षेत्रों में ही रखी जायें और उनका दूध निकलते ही सारा दूध शहरों में भेज दिया जाये।

भारत में सभी जगह पिछले ५० वर्ष से पहले तक गाय रखना, उसे पालना और उसकी देखभाल करना मुख्यत: किसान कुटुम्बों और परिवारों का काम था। बड़े पैमाने पर गाय रखने वाले कुछ समूह भी गाय को पालते थे। वह सब ढाँचा इन ५० वर्षों में टूट गया दिखता है। इनमें से अधिकांश किसानों में गाय का दूध सूखने पर अगले ८–१० महीनों के लिये उसे रखने की आर्थिक क्षमता भी नहीं रह गई है। इसलिये ऐसी सूखी हुई अधिकांश गायें बेच दी जाती हैं और वे कत्लखाने चली जाती हैं।





शहरों में और गैर–किसान परिवारों में रखी जानी वाली गायों का तो ऐसा हाल होता ही है। सांड़ों का न होना और सूखे रहने के समय में गायों को संभालना आर्थिक दृष्टि से कठिन हो जाना, गौवंश के पालन में सबसे बड़ी रुकावट दिखती है। इनका जब तक कोई निराकरण नहीं हो पायेगा तब तक तो गाय का बचना संभव नहीं दिखता।

गाय से मिलने वाले गोबर, गौमूत्र के आर्थिक उपयोग की बात अवश्य चलती है, उसमें काफी बातें व्यावहारिक भी दिखती हैं। लेकिन केवल इन आधारों पर ही सांड़ों की भयंकर कमी और सूखे के समय में गाय को रखने की समस्या हल होती नहीं दीखती।

सबसे भयंकर बात जो पिछले ५० वर्षों में हुई है तथा पिछले २५–३० वर्षों में तेजी से बढ़ी है, वह है सभी तरह के पशुओं के मांस का विदेशों में निर्यात। यह घोर राक्षसी विचार भारत में कब उठा व कहाँ से आया अथवा किन लोगों ने इसको आगे बढ़ाने में प्रमुख भूमिका निभाई, यह जानना आवश्यक है। भारत की परम्परा तो जहाँ तक हो सके, अहिंसक रूप से जीवन जीने की रही है। हिंसा को भारत में कभी भी बहुत ऊँचा स्थान नहीं दिया गया जबकि यूरोप के शास्त्रों में हिंसा का स्थान ऊँचा रहा है।

भारत में कुछ हद तक कुछ समूहों में या कुटुम्बों व परिवारों में पशुओं का मांस खाया जाता रहा है। समुद्रों, नदियों, तालाबों के किनारे रहने वाले अधिकांश लोग तो मछली खाते ही रहे हैं। लेकिन यह सब सीमित रूप में ही रहा और मांस व मछली खाने वाले अधिकांश लोगों की यह कोशिश रही कि जहाँ तक हो सके मांस–मछली कम से कम खायें। पशुओं को मारना भारत में कभी भी प्रतिष्ठा नहीं पा सका। पिछले अंग्रेजी राज्य के २०० वर्षों में भी नहीं। लेकिन इस संगठित मांस निर्यात से हमारी मान्यतायें व आस्थायें बदलने की कोशिश हो रही है। सरकारी स्तर पर तथा राष्ट्रीय स्तर पर सरकार द्वारा इस तरह का निर्यात करवाना और उसे प्रोत्साहित करना भारतीय आस्थाओं और मान्यताओं के विरुद्ध है और इसलिये इसे राष्ट्रीय अपराध माना जाना चाहिये। जब तक मांस निर्यात पूर्ण रूप से बंद नहीं किया जाता, तब तक गौवध बंद करने की बात सोचना तो एक खिलवाड़ जैसा ही है। इसलिये भारतीय प्राथमिकता और सूझ तो यह है कि शीघ्रातिशीघ्र मांस निर्यात बंद हो, तो उसके बाद गौवंश को बचाने के रास्ते भी दीखने व समझ में आने लगेंगे।

संक्षिप्त में हमें अपनी कृषि और पशुपालन को पारम्परिक भारतीय रास्ते पर लाने के लिये आवश्यक है कि:–

१. भारत से किसी भी तरह का मांस–निर्यात सरकार द्वारा शीघ्रातिशीघ्र बंद किया जाये और विदेशों से भी भारत में किसी भी तरह के मांस का आयात नहीं हो।

२. भारतीय नस्ल के सांड़ों को देश के सब भागों में शीघ्रातिशीघ्र उपलब्ध करवाने के उपाय सोचे जायें और यह कार्य जितनी तेजी से हो सके उतनी तेजी से किया जाये।

३. सूखे रहने के समय में गायों के पालन का उचित प्रबन्ध हो और इसमें अगर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से सहारा देना आवश्यक लगता हो, तो वह भी दिया जाये।

४. पशुओं के लिये जो चरागाह होते थे, वही अथवा उनके स्थान पर दूसरी जमीनें गाँव व छोटी बस्तियों को वापस मिलें।

५. हम राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय कृषि पर पुनर्विचार करें और उसे पारम्परिक पद्धति की ओर ले जाने का प्रयास करें। भारत की पारम्परिक पद्धति ने हजारों वर्षों तक भारत के लोगों को पाला—पोसा है और भारत की समृद्धि भी बढ़ाई है। हो सकता है इस पारम्परिक पद्धति में कुछ नये ढंग के शोध और अध्ययन की आवश्यकता पड़े जिसके आधार पर हम इसे और शक्तिशाली व सही दृष्टि से अधिक उपजाऊ बना सकें। भारतीय कृषि का आधार तो भारतीय पारम्परिक पद्धति ही हो सकती है, विदेशी नकल नहीं।

६. पिछले ५० वर्षों में केंद्रीय पशु पालन विभाग तथा प्रादेशिक पशु पालन विभाग, दोनों ही पशुओं के संरक्षण की बजाय बड़े पैमाने पर पशुओं के कत्ल के काम में लग गये हैं। पिछले २०—३० वर्षों में यह कत्ल तो भयंकर रूप से बढ़ा है। पशु पालन विभाग के बड़े से बड़े अधिकारी से लेकर छोटे से छोटे तकनीकी कर्मचारी तक, जो कृत्रिम गर्भध ारण करवाने का काम करते हैं, सभी कैसे अधिक से अधिक पशु कत्ल हों, इस दृष्टि से ही अपने कामों में लगे हैं। यदि इस विभाग को इसी रूप में रखना है तो इसको मांस—निर्यात विभाग कहना चाहिये। परंतु इस विभाग का काम यदि यह है कि पशुओं का रक्षण हो तथा उनका वध नहीं हो, तो इसके अधिकारियों, कर्मचारियों की शिक्षा—दीक्षा तथा उनके प्रशिक्षण संस्थानों के पाठ्यक्रमों को पूरी तरह से बदल कर पुनर्निर्धारित करना चाहिये। जब तक यह संभव नहीं हो पाता, तब तक गाँव वालों एवं बड़ी संख्या में गाय पालने वालों को ही गौ—संरक्षण की जिम्मेवारी दे देनी चाहिये।

७. दुनिया की अन्य सभ्यताओं व देशों में गाय की क्या स्थिति है और उसका पालन कैसे होता है, इस पर भारतीय दृष्टि से अध्ययन व शोध करना चाहिये। कहा जाता है कि चीन और जापान के क्षेत्रों में गायों व भैंसों का दूध नहीं पिया जाता। अगर ऐसा है तो हमें इस बारे में पूरा ज्ञान होना चाहिये, और ऐसा क्यों होता है इसके कारण भी पता होने चाहिये। हो सकता है कि अफ्रीका इत्यादि की सभ्यताओं व देशों में भी कुछ ऐसा ही होता हो।



८. **इस्लाम के** भारत में आने पर गौवध आरंभ हुआ, इसकी काफी चर्चा रहती है। यह **कब और कितना** हुआ, इसका विस्तृत अध्ययन होने की आवश्यकता है। इस्लाम की जहाँ—**तहाँ हुकूमत** होते हुए भी गौवध कम होता चला गया और बिल्कुल बंद कर दिया गया, **इस पर भी** शोध और अध्ययन की आवश्यकता है। इस अवधि में गौवध पर क्या—क्या लोगों और विद्वानों में विवाद हुए, इसकी भी जानकारी होनी चाहिये। इस्लाम के भारत में आने से पहले प्राचीन भारत में गाय के प्रश्न पर क्या—क्या लेखन हुआ, क्या—क्या चिन्तायें प्रकट की गईं और गाय के वध्य व अवध्य की मान्यता पर क्या—क्या विवाद हुए, इन सबकी एक पक्की समझ भारत में बनने की भी आवश्यकता है।

९. अंग्रेजों ने अपनी सेना और अन्य यूरोपीय लोगों के लिये बड़े पैमाने पर गौवध आरंभ किया। क्रमशः यह बढ़ता ही गया और सेना द्वारा चलाये जाने वाले कत्लखाने सैकड़ों स्थानों पर आरंभ किये गये। इन कत्लखानों के लिये पशु काटने वालों को भी ढूँढ़ा गया। इसी तरह से अंग्रेजों ने तथा उनकी सेनाओं ने गाँव वालों से जबर्दस्ती बैल छीने और उनका उपयोग अपनी सेनाओं को सैकड़ों मील इधर से उधर ले जाने में तथा इसी तरह से अंग्रेजी अफसरों व व्यापारियों को भी लाने—ले जाने में किया।

अंग्रेजी फौज और प्रशासन द्वारा लगातार १५० वर्षों तक इन बैलों की छीनाझपटी तथा गाँव व छोटे कस्बों के लोगों को जबर्दस्ती मजदूर बनाने का एक लम्बा इतिहास है। इन सबका विस्तृत उल्लेख अंग्रेजी सरकार के दस्तावेजों में है। गौवध के प्रश्न पर अंग्रेजों और भारतीयों के बीच में काफी झगड़े भी हुए। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि गाय को लेकर सबसे बड़ा आन्दोलन तो १८८०—१८९३ के बीच में हुआ। इन सब पर भी कई दृष्टिकोणों से अध्ययन की आवश्कता है।

## आठ

ऊपर दिये गये तथ्य, दस्तावेजों व ग्रन्थों पर आधारित हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक तथ्य भी हमारे विद्वत् जनों को मालूम होंगे; विशेषतः उन्हें, जिन्होंने और जिनके पूर्वजों ने प्राचीन काल से भारत की कृषि व पशुपालन व्यवस्था को संभाला व चलाया है।

भारतीय परम्परा के आधार पर ही भारत पुनः व्यवस्थित हो सकता है, ऐसा पिछले २०—३० वर्षों में हमारे शिक्षित लोगों की समझ में भी आने लगा है। अपने आधार पर लौटने से ही भारत के ८०—९० प्रतिशत साधारण जन, जो पिछले १००—१५० वर्षों से

भारतीय व्यवस्थाओं (आर्थिक, राजनैतिक, प्रशासनिक एवं शैक्षणिक–सांस्कृतिक) से अलग जैसे कर दिये गये थे, इन व्यवस्थाओं को समझ–बूझ से चलाने की जिम्मेदारी फिर से ले सकेंगे। गौवंश को पुनः प्रतिष्ठित करने और भारत की कृषि को भारतीय आधार, तौर–तरीकों और परम्पराओं से पुनः जोड़ देने पर हमारा आत्मविश्वास लौटेगा; हम आत्मनिर्भर बनेंगे और हम सब का साहस भी लौट आयेगा। हमें संसार में दूसरों पर निर्भर न रहकर, स्वयं की शक्ति पर चलना है और तभी हम संसार से मित्रता का सम्बन्ध भी स्थापित कर पायेंगे। यह संसार के लिये भी शुभ होगा।

◆◆◆



# उत्तरांचल राज्य के गठन पर व्यवस्था सम्बन्धी कुछ विचार

किन्हीं भी नये प्रदेशों को बनाने का मुख्य कारण तो यह है कि वे अपनी समृद्धि और सुख के लिए अपने रीति–रिवाजों, साधनों और स्वभाव के अनुसार चलें। अंग्रेजों ने जो ढाँचा और तंत्र भारत में १७६० के बाद कायम किया, उसी को हमने अपना लिया।

अंग्रेज भी और हम भी, यह बात कम से कम सन् १९२० से तो जानते ही थे कि यह ढाँचा व तंत्र हमारे किसी काम का नहीं है – यह बहुत लचर हो चुका है। इसकी मान्यताएँ हमारे यहाँ के लोगों की मान्यताओं से हर दृष्टि से भिन्न हैं और वे हमारी मान्यताओं से कहीं भी मेल नहीं खातीं और इस ढांचे की नींव पर कोई स्वस्थ और सुखी समाज नहीं चल सकता।

भारतवर्ष के सामने बहुत से प्रश्न हैं और हमारी बेसमझी और दूरदृष्टि की कमी के कारण यह प्रश्न पिछले ५०–५५ बरसों में बढ़े ही हैं। इन्हीं प्रश्नों में एक प्रश्न यह है कि हम जो नये प्रदेश बना रहे हैं, वे किस भूमिका को लेकर बनने हैं। पिछले २०–३० वर्षों में जो–जो नये प्रदेश बने, वे अधिकांशतः काफी छोटे हैं। पूर्वोत्तर भारत में जो नये प्रदेश बने, उनकी जनसंख्या तो किसी प्रदेश में १०–२० लाख से अधिक नहीं है। अभी पिछले वर्ष जो तीन नये राज्य बने हैं, उनमें से हर एक की जनसंख्या ६०–७० लाख के करीब होगी।

यह तो स्पष्ट ही है कि उत्तरपूर्व में बने छोटे–छोटे प्रदेश और पिछले साल बनाये गये तीन प्रदेश, ये बहुत बातों में भारत के प्राचीन बड़े–बड़े प्रदेशों से कुछ अलग से हैं। इनकी

*(यह लेख नवम्बर २००१ में लिखा गया था)*

जमीन, जलवायु, प्राकृतिक संरचना उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब, बंगाल, हरियाणा इत्यादि से काफी भिन्न है। इन प्रदेशों के लोगों के रीति–रिवाज भी काफी भिन्न हैं और शायद अभी तक ये रीति–रिवाज पुरानी परम्पराओं से जुड़े हुए हैं। सम्भव है कि उत्तर प्रदेश, बिहार इत्यादि जैसे प्रदेशों के रीति–रिवाज भी अंग्रेजों के आने से पहले तक इन नये प्रदेशों के रीति–रिवाजों से काफी मिलते रहे हों जिन्हें अंग्रेजी राज ने अपने डेढ़–दो सौ बरस के प्रभुत्व में तोड़ा–मरोड़ा और नष्ट–भ्रष्ट ही किया।

किन्हीं भी नये प्रदेशों को बनाने का मुख्य कारण तो यह है कि वे अपनी समृद्धि और सुख के लिए अपने रीति–रिवाजों, साधनों और स्वभाव के अनुसार चलें।

जब १९४६–४७ में अंग्रेजों के भारत छोड़ने की बात चली, तब अंग्रेजों को कि वे चले जायें, कहने का हमारा मुख्य उद्देश्य था कि हम भारतवर्ष को अपने साधारण लोगों की परम्पराओं, मानसिकताओं, स्वभाव और आवश्यकताओं के अनुसार चला सकें। लेकिन बहुत कारणों से तब यह नहीं हो पाया और अंग्रेजों ने जो ढाँचा और तंत्र भारत में १७६० के बाद कायम किया, उसी को हमने अपना लिया। अंग्रेज भी और हम भी, यह बात कम–से–कम सन् १९२० से तो जानते ही थे कि यह ढाँचा व तंत्र हमारे किसी काम का नहीं है – यह बहुत लचर हो चुका है। इसकी मान्यताएं हमारे यहाँ के लोगों की मान्यताओं से हर दृष्टि से भिन्न हैं और वे हमारी मान्यताओं से कहीं भी मेल नहीं खातीं और इस ढांचे की नींव पर कोई स्वस्थ और सुखी समाज नहीं चल सकता। लेकिन हम राजनीति शास्त्र से शायद कई सौ बरसों से इतने अनभिज्ञ थे और अपने को इतना शक्तिहीन मानते थे कि हमें इस अंग्रेजी ढाँचे और तंत्र को बदलने का साहस नहीं हुआ। इसी समय बहुत से कारणों से देश के बँटवारे का प्रश्न भी बहुत तेजी से उठ खड़ा हुआ। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि हम अपने होश–हवास भी खो बैठे और संभलने में, और अंग्रेजों के समय की १९४६ की स्थिति तक वापिस लाने में, हमें तीन चार बरस लग गये। इन तीन–चार वर्षों में यह अंग्रेजी ढाँचा और तंत्र हमारे नेताओं और देश चलाने वालों को अपना ही लगने लगा। इनमें से अधिक लोग बूढ़े भी होने लगे थे और कोई भी बदलाव उन्हें अच्छा नहीं लगता था और देश का उत्साह और शक्ति भी धीरे–धीरे कम हो चली थी। अँग्रेजी राज्य में डेढ़ सौ वर्ष तक अंग्रेजी और अंग्रेजी मान्यताओं का जो प्रभाव हमारे यहां हुआ उससे प्रभावित लोग हमारे यहाँ तब लाखों में रहे। उनका देश की परम्पराओं से बचा–खुचा सम्बन्ध स्वतंत्रता के बाद धीरे–धीरे कम होता गया और वे अंग्रेजों और यूरोप की व्यवस्था पर और अधिक आसक्त हो गये। ये बिगाड़ इतना बढ़ा कि हमारी दृष्टि





इंग्लैण्ड और यूरोप और अमरीका की तरफ ही लगी रही और हम कुछ ऐसा मानने लगे कि जैसे हमारे पड़ोस के, एशिया और अफ्रीका के लोग तो हमारे लिए कोई मायने ही नहीं रखते। महात्मा गांधी के काम और आकर्षण से इनमें से अधिकांश देश और लोग हमारे से काफी अपेक्षाएं रखते थे। वे मानते थे कि हम एशिया, कम से कम बौद्ध धर्म से प्रभावित एशिया और हिन्द महासागर के करीब के अफ्रीका को राजनीति और समाज व्यवस्था का एक नया दर्शन बनाने में सहकार करेंगे। लेकिन हमने तो बहुत करके उनकी तरफ से आँखें ही मोड़ लीं जैसे कि हमें दीखना ही बन्द हो गया हो।

इन तीन प्रदेशों के बनने से सम्भवतः भारत के स्वराज का एक नया प्रारम्भ हो सकता है। अगर उत्तरांचल और दूसरे दोनों प्रदेशों के जन, और खासकर युवा लोग, विचार करें और आवश्यक प्रयत्न करें तो यह सम्भव है कि कम से कम इन तीन प्रदेशों में हम जिस तरह का स्वराज्य १९४६–४७ तक चाहते थे, उसे अब स्थापित कर सकें। उसके लिए आवश्यक होगा कि जहाँ तक हो सके कि अंग्रेजों के कारण हमारे यहाँ जो बिगाड़ हो गया, उसको सही कर दिया जाये और अंग्रेजों का दिया ढाँचा और तंत्र छोड़कर हम नये ढाँचे और तंत्र की नींव डालें। ऐसा करने में बहुत हद तक तो हमें महात्मा गांधी के बतलाये रास्ते पर ही चलना होगा। लेकिन ये रास्ता केवल गांधी जी ने ही नहीं बतलाया था। भारत अत्यन्त प्राचीन काल से इसी तरह के रास्ते पर, और जिन मान्यताओं पर ये रास्ते बने हैं, उन पर चलता आया है। हो सकता है कि कुछ बातों में हमारे पुराने रास्तों में कमजोरी हो। हमें दूसरे खूंखार देशों की तरह, जैसे कि यूरोप कई हजार बरस से रहा है, और दूसरे कुछ देश भी जैसे खूंखार या आक्रामक स्वभाव के रहे हैं, वैसा नहीं बनना है। लेकिन खूंखार और आक्रामक होना तो भारत की प्राथमिकता नहीं है। और खूंखार और आक्रामक लोग भी, काल के बदलने पर, दो सौ–चार सौ बरसों में ही, अक्सर दूसरों से पिट जाते हैं। जैसा हम जानते हैं कि पिछले डेढ़ दो हजार बरस का ईसाइयत व इस्लाम का इतिहास इसी खूंखारपन, आक्रामकता और पिटने का इतिहास है।

हमारे इन प्रदेशों में जो पुनरर्चना होगी, उसमें सौन्दर्य, स्वच्छता आवश्यक साधन खाना–पीना, मेल मिलाप, समझ और अपने पड़ोस के संसार का और उस संसार का सृष्टि से क्या सम्बन्ध है यह तो उनका आधार रहेगा किन्तु अलग–अलग तरह की जानकारी, विद्याएँ, कारीगरी, जैसे–जैसे उनकी आवश्यकताएँ होंगी, यह समाज बनाता रहेगा। इनमें पतञ्जलि सूत्र, भरत के नाट्यशास्त्र, चरक संहिता, वास्तुशास्त्र की अलग–अलग विद्याएँ, आवश्यकता होने पर समय–समय पर इन समाजों की मदद करेंगी। पर ये समाज

क्या–क्या चाहता है इनकी क्या प्राथमिकताएं हैं इसका निर्णय तो वह स्वयं ही करें और हो सकता है कि उत्तरांचल प्रदेश में एक ही बात पर बीसियों तरह के निर्णय हों, जो अलग–अलग समूहों और लोगों की जो–जो आवश्यकताएं हैं, उनको पूरा करते हों। ये कहना आवश्यक है कि ऐसा बदलाव दो–चार बरस में शायद नहीं आये पर एक–दो पीढ़ी में तो आ ही जायेगा। अगर ऐसे आवश्यक बदलाव उत्तरांचल जैसे एक प्रदेश में आये, तो न केवल अन्य नये बने प्रदेशों में भी आ सकता है, पर इनके देखा देखी अन्य प्रदेशों में, सारे भारतवर्ष में भी आ सकता है। और अगर ऐसा हुआ तो २०–५० वर्षों में भारत का स्वराज्य जो १९४६–४७ में हमारे से दूर रह गया था, वह फिर से हमारे पास वापिस आ जाये। और भविष्य का हमारा संसार उस स्वराज्य व उसकी धारणाओं और मान्यताओं के अनुसार चलने लगे।

ऐसा स्वराज्य अगर वापिस आता है तो हमें अवसर मिलेगा कि हम अपने पड़ोस के तीस–पचास देशों से, जो हिन्द महासागर के चारों तरफ बसे हुए हैं, घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित कर सकें और फिर इन तीस–पचास देशों का एक ऐसा महान वृत्त बने जो अब तक संसार में इस प्रकार के वृत्त बनाने के अलग–अलग प्रयत्न हुए हैं – जैसे कि पिछले ८० वर्षों में यूरोप और अमरीका ने लीग ऑफ नेशन्स, संयुक्त राष्ट्र संघ इत्यादि को बना कर किये हैं – उनकी तुलना में यह अपने से जुड़े देशों का अधिक भला करे और बाकी संसार को भी आज से अधिक सुखी बनाने में मदद करे।

आज का २००–५०० वर्ष से यूरोप और अमरीका का बनाया संसार तो दुःख और क्लेश से ही भरा हैं; जितनी ऊँच–नीच इस संसार में है, उतनी तो पहले कभी नहीं हुई। जितनी हिंसा इसमें है, उतनी हिंसा तो पुराने यूरोप के ईसाइयों और इस्लाम के लोगों ने भी कभी नहीं की। यूरोप और इस्लाम में सन् ११०० से १५०० तक जो क्रूसेड हुए, उनमें भी नहीं।

अगर हमारा स्वराज्य वापिस आता है और हम ऐसा वृत्त बनाने में सहकार करते हैं तो सम्भव है कि अन्य वृत्तों में जो देश और जन हैं, हम उनके भी कुछ काम के हों। हमारी सूझबूझ से हो सकता है, उनके अनेक झगड़े–लड़ाइयाँ सुलझवाने में हम मदद कर सकें। आज का ही समय लीजिये। हमारा 'स्वराज्य' जो कि हमारी परम्परा की, हमारी मान्यता, से हमें विरासत में मिला है जिसे महात्मा गांधी ने दुबारा वापिस लाने का रास्ता हमें बतलाया, वह अगर हमारे पास इस समय होता और हम अपने पड़ोसी देशों का एक वृत्त भी बना पाते तो आज जो संयुक्त राज्य अमरीका, अफगानिस्तान में बड़ी कलह हुई



है उसको सुलझाने का हम कोई रास्ता बतला पाते। हम व यूरोप के अन्य देश जैसे कि जर्मनी इत्यादि आज जो कर रहे हैं, उससे तो ऐसी कलह बढ़ती ही है या सभी देश एक दूसरे से भयभीत हो जाते हैं, लेकिन इससे सुलझने के रास्ते तो नहीं निकलते। उत्तरांचल का स्वराज और उससे प्रभावित भारत का स्वराज तो न केवल अपने को सुखी रख सकेगा, सम्भव है वह आज के यूरोप–अमरीका के बनाये संसार को भी सुखी होने का रास्ता बता सके।

◆◆◆

# जीवनवृत्त

धर्मपाल जी का जन्म मुजफ्फरनगर की तहसील काँधला में फरवरी १९२२ को हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा डी.ए.वी. स्कूल और गवर्न्मेंट कॉलेज, लाहौर में हुई। शिक्षा पाने के बीच में ही वे स्वाधीनता आन्दोलन में भी भाग लेते रहे। धर्मपाल जी को उनके पिता सन् १९२९ के लाहौर कांग्रेस अधिवेशन में ले गये जहाँ आठ वर्ष की आयु में उन्होंने पहली बार गांधीजी के दर्शन किये। उसके एक साल बाद भगत सिंह व उनके साथियों को फाँसी की सजा सुनायी गई और धर्मपाल जी के अनेक मित्र बतलाते हैं कि इसके विरोध में उन्होंने लाहौर की गलियों में नारे लगाये थे। इसी दौरान अपने स्कूली साथियों से अंग्रेजों के भारत छोड़ने के बारे में धर्मपाल जी की परस्पर बहसें होती थीं। उनके कुछ सहपाठी स्वराज के खिलाफ थे क्योंकि उन्हें आशंका थी कि कहीं अफ़गानी जनजातियाँ भारत में हमला न बोल दें। यद्यपि धर्मपाल जी की औपचारिक स्कूली और कॉलेज स्तर की शिक्षा पाश्चात्य प्रणाली के विद्यालयों में ही हुई, पर उनके विचार ब्रिटिश आधिपत्य के खिलाफ ही रहे। सन् १९४० के आसपास उन्होंने नियमित खादी पहनना शुरू कर दिया। १९४२ में बम्बई में हुए कांग्रेस अधिवेशन में जहाँ 'भारत छोड़ो' का नारा गूँजा, धर्मपाल जी भी इस आन्दोलन में कूद पड़े। अप्रैल १९४३ को उन्हें इस आन्दोलन में भाग लेने के कारण कैद कर लिया गया। दो महीने बाद उन्हें जब छोड़ा गया तो उन्हें दिल्ली से 'देश निकाला' दे दिया गया। १९४४ की अगस्त में उनका परिचय मीरा बेन से हुआ और धर्मपाल जी मीरा बेन 'किसान आश्रम' (रुड़की और हरिद्वार के बीच में) में सम्मिलित हो गये। वे कुछ समय को छोड़कर (जैसे १९४७–४८ में दिल्ली और १९४८–४९ में



इग्लैण्ड) १९५३ तक (मीरा बेन के सेवा निवृत्त होने तक) उसी आश्रम में रहे। सन् १९४७–४८ में धर्मपाल जी डॉ. राममनोहर लोहिया व कमला देवी चट्टोपाध्याय के संपर्क में आये। उन्हीं दिनों उन्होंने पाकिस्तान से आये शरणार्थियों के पुनर्वास को लेकर भी काम किया और कमला देवी चट्टोपाध्याय द्वारा स्थापित 'इण्डियन कोओपरेटिव यूनियन' की भी सदस्यता ग्रहण की। १९५० में ऋषिकेश के पास पशु लोक में बापू ग्राम नाम से एक सामुदायिक ग्राम की स्थापना की और परिवार सहित कुछ वर्ष वहीं रहे। दो वर्ष (१९६४–६५) तक वे शोध निदेशक के रूप में अखिल भारतीय पंचायत परिषद् से जुड़े रहे। बीच–बीच में पारिवारिक कारणों से इग्लैण्ड में रहे परन्तु विगत २७ वर्षों से मुख्यत: आश्रम प्रतिष्ठान, सेवाग्राम में ही रहते हैं। वहीं उन्होंने 'द ब्यूटीफुल ट्री' पुस्तक लिखी। वे पी.पी.सी.एल. के अध्यक्ष भी रहे हैं और 'सेन्टर फॉर पॉलिसी स्टडीज़' से भी उनका निकट का संबंध रहा है। काँची के शंकराचार्य जयेन्द्र सरस्वती के दबाव में अगस्त २००१ में भारत सरकार ने जब 'राष्ट्रीय गौवंश आयोग' की स्थापना की, उसके प्रथम अध्यक्ष के रूप में आपकी नियुक्ति हुई। सरकारी तंत्र में जैसे कार्य होता है, उससे खिन्न होकर कुछ माह बाद उन्होंने फरवरी २००२ में इस पद से त्याग पत्र दे दिया।

१९६२ में भारत पर हुए चीनी आक्रमण पर उनकी प्रतिक्रिया से तत्कालीन शासन–तंत्र इतना तिलमिला गया कि इन्हें तिहाड़ जेल भेज दिया गया। बाद में जयप्रकाश नारायण के हस्तक्षेप से वे जेल से बाहर आये परन्तु उनके चित्त और मानस को इस घटना ने झकझोर दिया। उन्हें लगा कि इस देश में उन्हें अपनी बात कहने का अवसर नहीं। शायद यह घटना उनके इग्लैण्ड जाने का परोक्ष कारण रही हो। परन्तु इग्लैण्ड जाकर उन्होंने पच्चीस–तीस वर्ष तक अठाहरवीं–उन्नीसवीं शताब्दी के उस इतिहास को इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी से खोजा जिससे पता चलता है कि किस प्रकार अंग्रेजी शासन–तंत्र ने इस देश की सोच–समझ को पंगु बना कर स्वदेशी व्यवस्थाओं को एक–एक करके नष्ट किया। इन्हीं अभिलेखागारों से प्राप्त अभिलेखों से १७वीं–१८वीं शताब्दी तक हमारे समाज की स्वायत्तता और स्वराज्य का भी पता चलता है। उन दिनों धर्मपाल जी को टाइप या फोटोस्टेट की सुविधा नहीं थी। ये सारे नोट्स बहुत परिश्रम करके उन्होंने अपने हाथ से उतारे हैं।

इन अभिलेखों और गांधीजी को समझ कर जो कुछ धर्मपाल जी ने अब तक लिखा है, वह औपनिवेशिक शासन और मानसिकता के कारण भारतीय समाज में आयी विकृतियों की ओर पुष्ट संकेत है परन्तु उनका उद्देश्य इन्हें पहचान कर भारत के उस स्वभाव को

दर्शाना है जिससे यह देश–समाज पुनः स्वदेशी, स्वायत्त और निजी व्यवस्थाओं पर खड़ा हो सके।

राजस्थान पंचायतों का अध्ययन करते हुए सन् १९६१ में उन्हें एक बिल्कुल दूसरी समझ हासिल हुई। सन् १९६२ में दक्षिण के बहुत से गाँवों का उन्होंने अध्ययन किया। इसके आधार पर उन्होंने साझा स्वामित्व वाले गाँवों, समुदायम आदि के बारे में विस्तृत आलेख लिखे।

धर्मपाल जी ने अपने अध्ययन के लिए १८वीं और १९वीं सदी को ही क्यों चुना? इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि १८वीं शताब्दी के मध्य बिन्दु को वे भारतीय समाज और राज्य–व्यवस्था की जानकारी के लिए महत्त्वपूर्ण मानते हैं। अंग्रेजों से पहले के भारतीय समाज को समझने के लिए उन्हें १७४० से १८३० तक के बीच के ब्रिटेन के अधिकारियों द्वारा लिखे अन्दरूनी दस्तावेज ज्यादा उपयोगी दिखायी दिये हैं। इसी के साथ यूरोपीय सभ्यता के दुनिया भर में विस्तार को भी उन्होंने समझा है।

गांधी जी के बहुत से लेखों, और विशेषकर 'हिन्द स्वराज' में देशज शिक्षा व्यवस्था, कला–कौशल, ब्रिटिश आक्रमण के बाद फैली कंगाली और १८०० से पहले दक्षिण के परिआर और महाराष्ट्र के महारों की बेहतर स्थिति के बारे में जो कुछ लिखा गया है, उसका व्यापक प्रभाव धर्मपाल जी पर पड़ा है। शायद उनके लेखन से गाँधी जी को समझने की वह दृष्टि मिलती है जो सामान्यतः अन्य गांधीवादियों में नहीं दिखलायी पड़ती।

स्वदेशी की पुनर्स्थापना के द्वारा भारत फिर से सबल, सशक्त, तेजस्वी राष्ट्र बन कर समकालीन विश्व में स्वधर्म को निभायें, यह धर्मपाल जी का अन्तर्निहित मानस है।

धर्मपाल जी की लेखनी ने इसी सनातन सत्य को उद्घाटित किया है।



# 'सिद्ध' के बारे में

'सिद्ध' एक शिक्षण एवं शोध संस्थान है जो १९८९ से टिहरी जनपद के जौनपुर विकास खण्ड में शिक्षा के क्षेत्र में अपनी पाठशालाओं के माध्यम से कुछ मौलिक प्रयोग कर रहा है। हमारे अनुभव हमें बताते हैं कि वर्तमान शिक्षा न ही व्यक्ति निर्माण करने में सफल है और न ही समाज निर्माण में। ऐसी स्थिति की मुख्य जिम्मेदारी हमारे शिक्षा तंत्र की है – जिसे यदि हम 'मैकाले की औपनिवेशवादी शिक्षा' कहें तो गलत न होगा, जिसका अन्तिम लक्ष्य एक बेहतर सरकारी नौकर या गुलाम बनाना ही रहा होगा। अफसोस कि आजादी के बाद भी हम इसी मॉडल को शान से ढो रहे हैं। यहां महात्मा गाँधी की २३ नवम्बर १९२० को कही बात याद आती है – ''गुलामी की जंजीर की चमक से हमारी आंखें चौंधियां रही हैं। हम उसे अपनी स्वतंत्रता की निशानी मान बैठे हैं। यह हमारी अत्यन्त हीन गुलाम अवस्था का सूचक है''। इस सब का नतीजा यह हो रहा है कि हमारे बच्चे पढ़–लिखकर रट्टू तोते, खोखले, अहंकारी और कमजोर बन रहे हैं। इसके अलावा जाने–अनजाने, बच्चों में अनेक माध्यमों से ऐसे संस्कारों का निर्माण हो रहा है जिसमें वे अपने गाँव, समाज, परिवेश से कट कर हीन भावना से ग्रसित हो रहे हैं। आज जब मैकालेवादी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण लक्ष्य, यानि नौकरी भी नहीं मिल रही है, तब माँ–बाप प्रश्न करने लगे हैं कि आखिर ऐसी शिक्षा किस काम की – जिसमें पढ़–लिखकर बच्चा 'न घर का रहता है न घाट का' या कि वह पढ़ लिख लेने के बाद 'बर्बाद' हो जाता है।

'सिद्ध' का विश्वास है कि शिक्षा का मुख्य लक्ष्य तो बच्चों में अस्मिता और आत्मविश्वास जगाना होना चाहिए, ताकि वे सशक्त नागरिक बन सकें, अपने पांवों पर खड़े हो सकें और व्यवस्थाओं को अपने देश काल के अनुसार ढाल सकें।

'सिद्ध' अपनी पाठशालाओं में, पिछले एक दशक से, कुछ ऐसे प्रयोग करता आ रहा है कि घर व पाठशाला की दूरी घटे और शिक्षा बच्चों के जीवन से जुड़े। बच्चे अपने समाज एवं परिवेश के माध्यम से ही भाषा, गणित, विज्ञान, भूगोल की अवधारणाओं को व्यावहारिक रूप से समझ कर सीखें, न कि रटकर। हमारा विश्वास है कि यदि शिक्षा बच्चों का सम्बन्ध उनके समाज एवं परिवेश से बेहतर कर पाती है तो बच्चों में अस्मिता का भाव पैदा होता है।

"सभ्यता वह आचरण है जिससे आदमी अपना फर्ज अदा करता है। फर्ज अदा करने के मानी है नीति का पालन करना। ऐसा करते हुए हम अपने को पहचानते हैं। यही सभ्यता है। इससे जो उल्टा है, वह बिगाड़ करने वाला है। किसी भी देश में किसी भी सभ्यता के मातहत सभी लोग सम्पूर्णता तक नहीं पहुंच पाते। हिन्दुस्तान की सभ्यता का झुकाव नीति को मजबूत करने की ओर है, पश्चिम की सभ्यता का झुकाव अनीति को मजबूत करने की ओर है। ..... और जहां चाण्डाल सभ्यता नहीं पहुंची है, वहां हिन्दुस्तान आज भी वैसा ही है।

महात्मा गांधी — 'हिन्द स्वराज'

## बोधिग्राम

शिक्षा शून्यता में नहीं होती। वह सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक सन्दर्भों से घिरी होती है। आज यह स्थली प्रचलित विकास के प्रतिमानों से भरी पड़ी है। जिन सन्दर्भों में शिक्षा विचरण करती है, उससे वह प्रभावित भी होती है और उन सन्दर्भों को प्रभावित भी करती है। 'सिद्ध' का मानना है कि जब तक शिक्षा के व्यापक सन्दर्भों की तलाश नहीं होती और उन्हें परिभाषित करके उन्हें प्रगट नहीं किया जाता, तब तक शिक्षा में किसी मूलभूत परिवर्तन की बात करना सम्भव नहीं है।

आज देश में अनेक लोग हैं जो इन मुद्दों से जूझ रहे हैं। इनमें विचारक भी हैं, शिक्षा शास्त्री भी, मीडिया से और स्वयंसेवी संस्थाओं से जुड़े लोग भी, जो कहीं न-कहीं छोटे पैमाने पर ही सही, कोई–न–कोई विकल्प ढूंढने में लगे हैं। ऐसे लोगों के लिए कोई कार्य–स्थल होना चाहिये जहाँ उचित वातावरण हो ताकि वे सब मिलकर किसी वैकल्पिक शिक्षा व्यवस्था को व्यापक सन्दर्भों में परिभाषित करते हुए रख सकें। इसी विचार से 'बोधिग्राम' का सृजन हुआ है। 'सिद्ध' द्वारा स्थापित 'बोधिग्राम' एक ऐसा रचनात्मक कार्यस्थल है जहाँ व्यापक आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक सन्दर्भों में शिक्षा के विभिन्न पहलुओं को तलाशा जा सके। 'बोधिग्राम' में वर्तमान में निम्नलिखित गतिविधियाँ हैं

| | |
|---|---|
| १. संजीवनी | युवाओं के लिए आवासीय विद्यालय जहां वे शिक्षण कार्य, समाज कार्य और व्यवसाय सम्बन्धी प्रशिक्षण पाते हैं। |
| २. [illegible] | स्वयं, समाज और प्रकृति की समझ बनाने/बढ़ाने हेतु सात दिवसीय शिविर |
| ३. संवाद | देश, समाज के समक्ष मौजूदा प्रश्नों/मुद्दों पर विश्लेषण एवं विकल्प हेतु विभिन्न वर्गों के विचारकों/चिन्तकों के साथ गोष्ठियां |
| ४. [illegible] | शोध शाखा |
| ५. [illegible] | पर्वतीय ग्रामीण स्कूलों का संचालन |
| ६. [illegible] | विद्यालय के शिक्षण, आवास और प्रशासन के अलावा [illegible] आय वृद्धि। |
| ७. सार्थक | सार्थक संवाद के लिए प्रकाशन इकाई |
| ८. [illegible] | जन समुदाय के साथ उन्हीं के बीच जाकर विचार [illegible] हेतु संवाद |